* श्री गुलाबवीर ग्रन्थमाला रत्न चतुर्थ *

भावना-शतक

(हिन्दी पद्यानुवाद और भाषा सहित)

मूल रचियता-भारतरत्न शतावधानी पंडितरत्न

मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

हिन्दी पद्यानुवादक—

मूलचन्द वत्सल

प्रकाशक—

श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति

ब्यावर

प्रथमावृत्ति १००० प्रति | मूल्य चार आना | श्री वीर संवत् २४६६ विक्रम संवत् १९९६

धन्यवाद

लाला दीपचन्दजी जैनी पल्लीवाल आर्यनगर अजमेर श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसमाज में एक धर्मात्मा और दानशील व्यक्ति हैं उनकी ७६ वर्ष की आयु है। उनके तीन पुत्र हैं एक बा० गुलाब चन्दजी जैन स्पेशलड्यूटी में गवर्नमेन्ट की तरफ से रियासतों में आफ़ीसर हैं दूसरे बा० नेमीचन्दजी जैन जे० रेलवे जोधपुर में एकाउन्टेन्ट हैं और तीसरे बा० ऋषभचन्दजी जैन एडवोकेट हैं। उक्त लालाजी ने यह पुस्तक अपने व्यय से छपवा कर श्री जैन-साहित्य प्रचारक समिति को अर्पण की है। इसके लिये इनको शतशः हार्दिक धन्यवाद है।

धीरजलाल, केशवलाल तुरखिया

मन्त्री

श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति

ब्यावर,

भावना-शतक
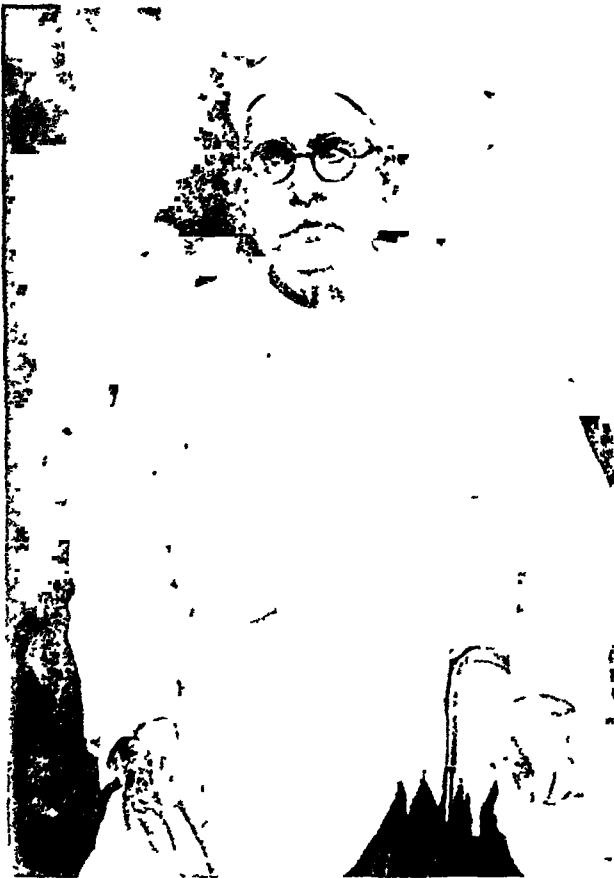
श्रीमान् लाला दीपचन्दजी जैनी पल्लीवाल
आर्यनगर अजमेर।

भूमिका

सहृदय पाठकगण !

संसार में प्राणी (जीव) मात्र सुख चाहते हैं। और उसी सुख की खोज में सुवह से शाम तक अनन्त परिश्रम कर सुख प्राप्ति का बड़ा ही प्रयत्न करते हैं। परन्तु सुख तो क्या! सुख का मार्ग तक नहीं पाते। उन्हीं सुखार्थियों के हितार्थ हमारे आदर्श पूज्यवर भारतरत्न शतावधानी पंडितरत्न मुनिश्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने अपनी लेखनी से सच्चे सुख का मार्ग "बारह भावनाओं" द्वारा बतला दिया है। साथ में जैन सिद्धान्त का रहस्य और पदार्थ का स्वरूप तो ऐसी खूबी के साथ बतलाया है कि पाठक महाशयों की आंखों के सामने प्रत्यक्ष ही आ जाता है। लालित्य और पद्य के विषय में तो शुष्क पाषाण हृदय भी एक बार के पढ़ने मात्र से हरे भरे नूतन पल्लवों से पल्लवित हो जाते हैं। विशेष क्या लिखूं! मेरा तो अनुरोध है कि इस छोटी सी पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर सच्चे सुख का मार्ग प्राप्त करेंगे। आशा है आप महानुभावों ने एक बार भी ध्यानपूर्वक इन बारह भावनाओं को पढ़ लिया तो आपका जन्म सार्थक हो सकेगा। इन बारह भावनाओं के उपरान्त परिशिष्ट में चार भावना दर्शायी गई हैं उनके नाम ये हैं, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ्य इन का वर्णन भली प्रकार किया गया है। जिससे मनुष्यों में परस्पर मेल, बड़ों की विनय, संसार के समस्त प्राणियों पर दया और राग द्वेष रहित वृत्ति उत्पन्न हो सके।

ये भावनायें संस्कृत पद्य में आशावरी और भैरवी राग में इस प्रकार लिखी हैं कि जिससे श्रोताओं को अपूर्व आनन्द मिल सके।

सन १९२९
फ़ाइन आर्ट, प्रेस
अजमेर

विनीत —
निरोतीलाल जैन

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

भावना-शतक

मंगलाचरण

(शार्दूलविक्रीडितम्)

श्रीवृन्दारकवृन्दवल्लभतरं, कल्पद्रुतुल्यं सदा ।
नत्वाऽऽखण्डलमण्डलार्चितपदं, श्रीवर्द्धमानं जिनम् ॥
स्मृत्वा हृद्यजरामरं गुरुगुरुं, निर्मीयते बोधकं ।
भव्यानां भवनाशनाय शतकं, सद्भावनानामिदम् ॥१॥

सुर समूह को जो अतिप्रिय हैं, कल्पवृक्षसम सुख के धाम ।
इन्द्रपूज्य उन महावीर को, करता हूँ शतवार प्रणाम ॥
गुरुओं के गुरु अजरामर का, धरता हूँ मैं मन में ध्यान ।
कहता हूँ "भावना-शतक" यह, भव-तम-नाशक दायक ज्ञान ॥१॥

अर्थ—जो देवताओं के समूह को अति ही प्रिय हैं और अपने आश्रित जनों को मनचाहा फल देने के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं, इन्द्रों ने जिनकी पूजा बड़े ही विनय से की है, जो राग-द्वेष को जीतने वाले हैं—ऐसे श्री वीर भगवान् को नमस्कार करके, और गुरुओं के भी गुरु ऐसे श्री अजरामर स्वामी का मन में स्मरण करके; मैं "भावना-शतक" नाम के इस ग्रंथ की रचना करता हूँ। जो भव्य जीवों के भव-भ्रमण का नाश कर उत्तम ज्ञान को देने वाला है ।

अनित्य-भावना

लक्ष्मी की अनित्यता

वातोद्वेल्लितदीपकाङ्कुरसमां, लक्ष्मीं जगन्मोहिनीं ।
दृष्ट्वा किं हृदि मोदसे हतमते, मत्वा मम श्रीरिति ॥
पुण्यानां विगमेऽथवा मृतिपथं, प्राप्तेऽमियं तत्क्षणा -
दस्मिन्नेव भवे भवत्युभयथा, तस्या वियोगः परम् ॥२।

जगत्-मोहिनी यह लक्ष्मी है, वायु-विकंपित शिखा समान।
अरे मूढ़ ! इसको पाकर क्यों, हाय ! रहा है अपनी मान ? ॥
इस संपत्ति का मिलना है ! केवल मात्र पुण्य आधीन।
ठहरेगी यह नहीं एक क्षण, होगा पुण्य जिस समय क्षीण ॥ २

हे भव्य ! सारे संसार को मोह पैदा करने वाली यह लक्ष्मी, व
से कॉंपती हुई दीपक की शिखा के समान नाश होनेवाली है, ऐसा देख
हुए भी जो तू यह मानता है कि 'यह लक्ष्मी मेरी है, तो यह क्या ते
महा मूर्खता नहीं है। अरे मूर्ख ! संपत्ति का मिलना तो पुण्य के आधी
है और पुण्य भी कुछ काल तक ही रहता है जिस समय पुण्य समा
हो जाता है उस समय लक्ष्मी एक क्षण भी नहीं ठहरती। तू यह निश्च
रख कि या तो इस लक्ष्मी को छोड़कर तुझे परलोक जाना होगा या य
लक्ष्मी ही तुझे छोड़ देगी। अरे ! पर भव की तो बात ही जाने दे, इस
भव से ही दोनों में से एक न एक तरह इस लक्ष्मी का वियोग अवश्य
ही होगा।

लक्ष्मीजन्य सुख दुःख की तुलना

त्यक्त्वा बन्धुजनं प्रियां च पितरं, मुक्त्वा च जन्मावनि-
मुल्लंघ्याम्बुनिधिं कठोरवचनं, सोढ्वा धनं सञ्चितम् ॥
हा कष्टं ! न तथापि तिष्ठति चिरं, कामं प्रयत्ने कृते ।
दुःखं सागरतुल्यमर्जितमभून्नो विन्दुमात्रं सुखम् ॥३॥

मात, पिता, प्रियजन को तजकर, प्यारी जन्मभूमि को छोड़ ।
सागर लाँघ, कठोर वचन सुन, रखता है जिस धन को जोड़ ॥
अरे ! वही धन वहुत समय तक, स्थिर कभी नहीं रहता ।
सागर सम दुःख देने पर भी, नहीं बिंदु सम सुख करता ॥ ३ ॥

जिस धन को माता, पिता, स्त्री, पुत्र तथा कुटुंब को छोड़कर, जन्म-भूमि को त्याग कर, समुद्रों को लांघ कर, दुष्ट अधिकारियों के कठोर वचनों को सुन कर बड़ी कठिनाईयों से इकट्ठा किया है और जिसकी रक्षा करने में अनेक उपाय करने पड़े हैं वह धन बहुत समय तक नहीं टिकता है। बड़े खेद की बात तो यह है, कि जिस धन के इकट्ठा करने और उसकी रक्षा करने में सागर के समान दुःखों को भोगना पड़ता है· उससे सुख की एक बूंद भी नहीं मिल सकती। हा ! रक्षा करते हुए भी यह लक्ष्मी अंत में वियोग का दुःख देकर चली जाती है।

लक्ष्मी को उपालम्भ

हा मातः कमले धनी तव सदा, वृद्ध्यै करोति श्रमं ।
शीतादिव्यसनं प्रसह्य सततं, त्वां पेटके न्यस्यति ॥
चौरेभ्यः परिरक्षणाय लभते, निद्रा-सुखं नो क्वचिद् ।
ध्रौव्यं नो भजसे तथापि चपले, त्वं निर्दया कीदृशी ॥४॥

हे लक्ष्मी ! जो जब तेरे हित, सदा कठिन श्रम करता है ।
तेरा संचय करके तुझको, बड़े यत्न से रखता है ॥
चोरों से रक्षण करता है, लेता सुख की नींद नहीं ।
तू न तनिक स्थिर रहती पर, निर्दय ! उसके यहाँ कहीं ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मी ! तेरा स्वामी हमेशा ही तेरी कितनी सेवा करता है । चाहे कितनी ही सरदी या गरमी पड़ रही हो तो भी उसकी कुछ भी परवाह न कर के तेरे लिए देश विदेशों में घूमता है, सन्दूक और तिजोरियों में बड़े यत्न से रख कर तेरी रक्षा करता है । तेरे लिए चाहे जहां पड़ा रहता है, चोर डाकुओं से बचाए रखने के लिए खुद नींद भी नहीं लेता और काम पड़ने पर अपने प्राणों का भी बलिदान कर देता है । तेरा स्वामी तेरे लिए इतने कष्टों को उठाता है परन्तु हे चंचले ! तू तनिक भी स्थिरता नहीं रखती और न उसके काम में ही लगती है । हा ! यह तेरी कितनी निर्दयता है ? क्या उपकार का बदला अपकार द्वारा चुकाना ही तेरा काम है ।

शरीर की अनित्यता

देहे नास्ति च रोम तादृगपि यन्मूले न काचिद्रुजा ।
लब्ध्वा ते सहकारिकारणमनुप्रादुर्भवन्ति क्षणात् ॥
आयुश्छिन्नघटाम्बुवत् प्रतिपलं, संक्षीयते प्राणिनां ।
तद्देहे क्षणभङ्गुरेऽशुचिमये, मोहस्य किं कारणम् ॥५॥

मानव तन के रोम रोम में, भरे हुए हैं रोग अपार ।
कारण पाकर वही रोग सब, आते हैं बाहिर दुखकार ॥
फूटे घट के जल सम ही यह, आयु क्षीण होती दिन रात ।
रोग भरे इस नश्वर तन से, करता मोह अरे ! क्यों भ्रात ! ॥ ५ ॥

मनुष्य के शरीर का एक रोम भी ऐसा नहीं है, जिसकी जड़ में रोग मौजूद न हो शास्त्रकारों ने तो एक २ रोम में १॥। रोगों का होना कहा है, शरीर में मौजूद रहने वाले वे रोग विषयभोगादिक के सेवन से अथवा रोग पैदा करने वाले जंतुओं आदि के द्वारा सहायता पाकर एक दम में ही बाहिर उभड़ आते हैं इस तरह एक ओर तो रोगों से जर्जरित यह शरीर है ही दूसरी ओर आयु पानी में उठती हुई तरंगों के समान क्षणभंगुर है, जो छेद वाले घड़े के पानी की समान क्षण क्षण में क्षीण होती जाती है । रोगों के उपद्रव और आयु की क्षीणता इन दो कारणों से यह शरीर अनित्य, नाशवान् और क्षणभंगुर दीखता है तो भी हे भव्य ! तू इस तुच्छ नश्वर और कुटिल शरीर से इतना मोह क्यों कर रहा है ?

शरीर की अनित्यता

यस्य ग्लानिभयेन नोपशमनं, नायम्बिलं सेवितं ।
नो सामायिकमात्म शुद्धिजनकं, नैकासनं शुद्धितः ॥
स्वादिष्ठाशनपानयानविभवैर्नक्तंदिवं पोषितं ।
हा नष्टं तदपि क्षणेन जरया, मृत्या शरीरं रुजा ॥६॥

तन दुर्वल होने के भय से, तूने तप, व्रत किया नहीं ।
सामायिक एकासन कर के, शुद्ध भाव रस पिया नहीं ॥
पुष्ट वनाया जिसे रात दिन, खिला पिला कर भोजन पान ।
वह शरीर भी तुझे छोड़ कर, हो जाता है नष्ट निदान ॥ ६ ॥

शरीर दुर्वल हो जायगा ऐसा भय करके किसी समय भी उपवास अथवा एकासन नहीं किया । जिससे आत्मा शुद्ध हो सके और शांति मिल सके ऐसा सामायिक प्रतिक्रमण आदि भी नहीं किया, भूख लगने से शरीर को खेद होगा ऐसा मान कर एकासन आदि भी शुद्ध भाव से नहीं किया-और रात दिन फल, फूल, चाह, मिष्टान्न आदि खाकर जितना हो सका इस शरीर को पुष्ट वनाया । पैदल चलने से शरीर को कष्ट होगा ऐसा समझ कर अनेक तरह की सवारियों पर चढ़कर शरीर की खूब रक्षा की, किन्तु वड़े दुःख की वात है कि इतना सव कुछ करते हुए भी यह शरीर नहीं रह सका रोग, बुढ़ापा और मृत्यु के पंजे में पड़कर नष्ट हो ही गया ।

वलशाली भी काल के ग्रास हो जाते हैं

भाज्यं राज्यसुखं विभूतिरमिता, येषामतुल्यं वलं।
ते नष्टा भरतादयो नृपतयो, भूमण्डलाखण्डलाः ॥
रामो रावणमर्दनोऽपि विगतः, क्वैते गताः पाण्डवा।
राजानोऽपि महावला मृतिमगुः, का पामराणां कथा ॥७॥

भरत समान महाचक्री भी, पांडव वीर जगत विख्यात।
रावण विजयी रामचन्द्रजी, महाप्रतापी थे हे भ्रात ॥
पंजे में पड़ काल सिंह के, हुए वीर वह चकनाचूर।
उन मनुजों की कथा कहो क्या, जो हैं दीन हीन दुःख पूर ॥ ७ ॥

जिनकी राज्य सत्ता विशाल थी, जिनका वैभव अपरिमित था, जिनके शरीर का वल अद्वितीय था, ऐसे भरत चक्रवर्ती भी काल के ग्रास होगए, रावण चला गया और उसको मारने वाले रामचन्द्र जैसे राजा भी संसार को छोड़कर चले गये, महा वलवान् जगद् विख्यात पांडव कहाँ गए ? इसका किसी को भी पता नहीं। जिस मौत के पंजे में पड़कर पृथ्वी के ऐसे वड़े २ वादशाह और मंडलीक राजा भी नष्ट होगए उसके सामने इन साधारण मनुष्यों की तो वात ही क्या है ?

यौवन की अस्थिरता

रे रे मूढ़ ! जरातिजीर्णपुरुषं, दृष्ट्वा नताङ्गं परं ।
किं गर्वोद्धतहासयुक्तवचनं, ब्रूपे त्वमज्ञानतः ॥
रे जानीहि तवापि नाम निकटं, भाषा दशेयं द्रुता ।
सन्ध्याराग इवेह यौवनमिदं तिष्ठेच्चिरं तत्किमु ? ॥८॥

जिसका तन अति जीर्ण हुआ है, डगमग डगमग चलता है ।
चार कदम चलने पर ही जो, कँप कर हा ! गिर पड़ता है ॥
उसे देख हँस रहा युवक क्यों, यौवन का यों चढ़ा नशा ।
'जाने को है अरे ! जवानी', तेरी होगी यही दशा ॥ ८ ॥

अरे ओ युवक ! उस वृद्ध को देख ! जिसका शरीर बुढ़ापे से जीर्ण होकर टेढ़ा पड़ गया है । जो हाँफते हाँफते लकड़ी टेककर बड़ी कठिनाई से चलरहा है वेचारा चलते २ लड़खड़ाकर गिर जाता है । अरे ! इस वृद्ध की तू किसलिये हँसी करता है ! यौवन के नशे में क्या तू इतना अधिक मस्त हो गया है या अज्ञान-सागर में डूब गया है जो तुझे इतना भी ख्याल नहीं आता कि यह जवानी जाने की है । अरे ! कुछ विचार कर ! यह जवानी थोड़े समय तक ही रहने की है बस चार दिन की बहार है संध्या के बादलों की तरह थोड़े समय के बाद जब यह जवानी चली जायगी तब तेरी भी इसी प्रकार दुर्दशा होगी । तू याद रख, इस वृद्ध की जिस दशा को देखकर तू हँसी कर रहा है वही दशा तेरी भी होगी, तब तुझे भी इसी प्रकार दुःख सहन करना पड़ेगा ।

सब की अस्थिरता

रम्यं हर्म्यतलं बलञ्च बहुलं, कान्ता मनोहारिणी।
जात्यश्वाश्चटुला गजा गिरिनिभा, आज्ञावशा आत्मजाः॥
एतान्येकदिनेऽखिलानि नियतं, त्यक्ष्यन्ति ते सङ्गतिं।
नेत्रे मूढ़! निमीलिते तनुरियं ते नास्ति किं चापरम् ॥६॥

चित्र विचित्रित महल अतुल बल, सुन्दर बाग, रम्य उद्यान।
चंचल रथ, घोड़े असंख्य वह, यह तेरा कुटुंब सुखदान॥
है कुछ दिन के लिए मूढ़ रे!, यह स्थिर है नहीं कभी।
जब यह तन भी नहीं रहेगा, क्या रह सकते और सभी॥ ९॥

सुन्दर २ चित्रों और सामग्रियों से सजाई हुई ऊँची हवेली, मनुष्यों के मन को चकित कर देने वाला अतुल बल, तरह २ के वृक्षों तथा पुष्पों की सुगंधित वायु से मन को हरने वाले मनोहर बग़ीचे, पवनवेग की तरह चलने वाले असंख्य घोड़े रथ और भारी कुटुंब, यह सभी वस्तुएं क्या तेरे पास स्थिर रहने वाली हैं? नहीं, कदापि नहीं, यह सभी वस्तुएँ कुछ काल के लिए ही उपभोग करने को मिली हैं, निश्चित समय के बाद ये सभी चीजें अवश्य ही नष्ट हो जायेंगी।

अरे मूढ! जिस समय शरीर से प्राण निकलने की तैयारी होगी और जिस समय आंखें बन्द हो जायेंगी उस समय तो यह शरीर भी जिससे तेरा अति निकट संबंध है, वह भी तेरा न रहेगा, फिर इन अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है।

अशरण-भावना

धन रक्षा नहीं कर सकता

(मन्दाक्रान्ता)

त्यक्त्वा धर्मं, परमसुखदं, वीतरागैश्च चीर्णं ।
धिक्कृत्यैवं, गुरुविधिवचः, शान्तिदान्ती तथैव ॥
भ्रान्त्वा लक्ष्मीं, कुनयचरितै-रार्जयस्त्वं तथापि ।
मृत्यौ देहं, प्रविशति कथं, रक्षितुं सा समर्था ॥१०॥

श्रीजिन कथित धर्म को तज कर, नीति वचन का बंधन तोड़ ।
शांत समाधि भंग सब करके, पाप ताप से नाता जोड़ ॥
देश-विदेशों में फिर कर जो, द्रव्य इकट्ठा करता है ।
वह न मौत से छुड़ा सकेगा, तू जिसके हित मरता है ॥१०॥

राग द्वेष से रहित, वीतराग के कहे हुए, परम सुख को देने वाले धर्म को तिलाञ्जलि देकर, शास्त्रकथित नीति वचनों के ऊपर पैर रख कर, और शांति, समाधि को भंगकर, देश, विदेशों में घूम कर, अन्याय और पापाचार से लक्ष्मी को इकट्ठा करता है । परन्तु जिस समय काल आ कर तेरा कंठ पकड़ेगा उस समय क्या यह लक्ष्मी तुझे काल के पंजे से छुड़ा लेगी ? नहीं, कभी भी नहीं । चाहे करोड़ों रुपये इकट्ठे किए हों, परन्तु वह करोड़ों रुपये भी तुझे काल के मुँह से छुड़ाकर अपने शरण में नहीं रख सकेंगे ।

स्त्री भी शरणरूप नहीं हो सकती

मत्वा यां त्वं, प्रणयपदवीं, वल्लभां प्राणतोऽपि ।
पुण्यं पापं, न गणयसि यत्प्रीणने दत्तचित्तः ॥
सा ते कान्ता, सुखसहचरी, स्वार्थसिद्ध्येकसख्या ।
मृत्युग्रस्तं, परमसुहृदं, त्वां परित्यज्य याति ॥११॥

प्राणों से प्यारी वह नारी, प्रेम पात्र निज जिसको मान ।
साज सजाने को ही निशदिन, करता है तू पाप महान् ॥
जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, दिखलाएगी प्रेम प्रपंच ।
नहीं मौत से छुड़ा सकेगी, साथ नहीं देगी वह रंच ॥११॥

जिस स्त्री को तू प्राण से भी अधिक प्यारी मानता है, सच्चे प्रेम का पात्र समझ कर जिसके संतोष तथा श्रृङ्गार के लिए, पुण्य, पाप की कुछ परवाह न कर चाहे जैसे खोटा काम करने में लग जाता है, वह तेरी प्रिय स्त्री, जब तक तेरे द्वारा सुख मिलता रहेगा और उसका स्वार्थ सधता रहेगा तब तक तेरे ऊपर हृदय से नहीं, किन्तु ऊपर से मोहित बनी रहेगी, प्रेम दिखलायेगी । किन्तु जिस समय दुःख से भरा हुआ काल का समय आयगा उस समय, संदूक और तिजोरी की चावी तथा आभूषण और संपत्ति का समाचार ही पूछेगी, परन्तु तुझे दुःख से अथवा मौत के पंजे से नहीं छुड़ा सकेगी ।

अशरण भावना का एक दृष्टान्त

दुर्गे ऽरण्ये, हरिणशिशुषु, क्रीडया संभ्रमत्सु ।
तत्रैकस्मिन्, मृगपतिमुखातिथ्यमाप्ते मकामम् ॥
धावन्त्यन्ये, दिशि दिशि यथा, स्व-स्व-रक्षाधुरीणाः ।
कालेनैवं, नरि कवलिते, कोऽप्यलं रक्षितुं नो ॥१२॥

महामनोहर वन में सुन्दर, मृग समूह क्रीड़ा करता ।
भरता है छलांग वह सुख से, इधर उधर चरता फिरता ॥
आन अचानक दुष्ट सिंह ने, जब मृग शिशु को पकड़ लिया ।
कोई उसे न बचा सके तब, भाग गए नहीं साथ दिया ॥१२॥

कल्पना कीजिए कि आप एक ऐसे जंगल में गए हुए हैं जहां नाना भांति के सुन्दर वृक्ष लगे हुए हैं जानवरों के न आने ज.ने के कारण जहां पर लंबा २ हरा घास खड़ा हुआ है वहां पर एक हिरणों का झुंड है, इस झुंड में छोटे बड़े सभी हिरण हैं । कोई चरते हैं, कोई एक टक सामने देखते हैं, कोई कूदते हैं और कोई खेल रहे हैं, निडर होकर अपनी इच्छानुसार चरते हुए फिर रहे हैं । अचानक ही उस जंगल में एक भयानक सिंह आया और उस झुंड पर छलांग मारकर आशा से भरे एक सुन्दर मृग-बालक को पकड़ लिया । ओह ! देखते ही देखते वह मृग उस राक्षस के मुँह का अतिथि बन जाता है । उस समय उसके साथी छोटे बड़े मृग बहुत थे, परंतु एक भी उसके बचाने को खड़ा नहीं रहा, उनको जो रास्ता मिला उसी ओर सबके सब भाग गए । उसी तरह जब मौत रूपी सिंह, एक मनुष्य को अपना ग्रास बनाता है, उस समय उसके माता पिता, स्त्री, पुत्र, संबंधी कोई भी उसे बचाने को समर्थ नहीं ।

भाई भी शरण नहीं दे सकते

कृत्वा कामं, कपटरचनां, दीनदीनान्निपीड्य।
हृत्वा तेषां, धनमपि भुवं, मोदसे त्वं प्रभूतम्॥
मत्वा स्वीयान्, प्रणयवशतः, पुष्यसि भ्रातृवर्गान्।
कष्टेभ्यस्त्वां, नरकगमने, मोचयिष्यन्ति किं ते॥१३॥

तू अति प्रेम मग्न हो जिनकी, इच्छा के हित हा! निशदिन।
दीन-हीन मनुजों को ठगकर, करता है रे! संचय धन॥
पाप-कपट के फल से तू हा, नरक-दुःख पायेगा जब।
तेरे वन्धु न तुझे तनिक भी, साथ कभी भी देंगे तव॥१३॥

तू भाइयों के प्रेम में मग्न हो कर, अपना मान कर उन्हें खुश रखने के लिए-उनकी मनोकामना पूरी करने के लिए दूसरे दीन हीन मनुष्यों के के साथ धूल, कपट, दगावाजी और अनीति करके-उन गरीबों का धन छीन कर उन्हें और भी गरीब वनाता है। और उस धन से भाइयों का पोषण करता है। परंतु जिस समय कपट, दगावाजी और पर-पीड़ा के फलस्वरूप तुझे नरक जैसी दुर्गति में पड़ना पड़ता है उस समय वे तेरे भाई क्या तुझे दुःख से छुड़ा सकेंगे। नहीं! अन्याय और अधर्म का फल तुझे अकेले को ही भोगना पड़ेगा उसमें कोई भी साथी नहीं होगा।

क्या पुत्र रक्षा कर सकते हैं ?

येषामर्थे, सततमहितं, चिन्तयस्यात्मनो ऽपि।
कृत्याकृत्यं, गणयसि पुनर्नैव पापं च पुण्यम्॥
गाढं धूलिं, क्षिपसि शिरसि, प्राणिनो हंसि चान्यान्।
किं ते पुत्रा, नरक-कुहरे, भागभाजस्त्वया स्युः ? ॥१४॥

जिन पुत्रों के लिए रात दिन, तू धन संचित करता है।
भोले जीवों को तड़पा कर, पाप भार सिर धरता है॥
अरे वृद्ध ! वह पाप तुझे जब, नरकों में जा डालेगा।
वह धनवाला सुत तेरा तब, तुझको नहीं बचावेगा॥१४॥

जिन पुत्रों के लिए तू रात दिन धन की चिन्ता में लगा रहता है। अपनी आत्मा के हित-अहित का रंच मात्र भी विचार नहीं करता—कर्तव्य-अकर्तव्य का भी ख्याल नहीं करता। मोह और एकान्त राग के वश अनेक प्राणियों को संतोष उपजा कर अनेक मनुष्यों का कलेजा तड़पा कर, निरन्तर सिर पर धूल डाला करता है। हे वृद्ध पुरुष ! जिस समय झूठ, पाप कर्म कुल्हाड़ा ले कर तेरे सिर पर चढ़ बैठेगा और नरक की ओर ले चलेगा उस समय तेरे वे पुत्र क्या एक क्षण के लिए भी तुझे बचा सकेंगे ? नहीं, कदापि नहीं। चाहे जितना धन वाले होने पर भी तेरे पुत्र तुझे नहीं बचा सकेंगे।

एक मुनि की अनाथता

यस्यागारे, विपुलविभवः, कोटिशो गोगजाश्वा ।
रम्या रामा, जनकजननी-बन्धवो मित्रवर्गाः ॥
तस्याभून्नो, व्यथनहरणे, को ऽपि साहाय्यकारी ।
तेनानाथो, ऽजनि स च युवा, का कथा पामराणाम् ॥१५॥

जिसके घर में था अपार धन, मन मोहक बालाएं थी ।
रथ, घोड़े थे सेवक भी थे, बन्धुजनों की कमी न थी ॥
उस गुण-सुन्दर की पीड़ा का, कष्ट न हटा सका कोई ।
दीन हीन मनुजों की तब क्या, बात अरे ! है, हे भाई ॥१५॥

जिसके घर में द्रव्य का कुछ पार न था जिसके यहां अनगिनती हाथी घोड़ा और रथ थे। मन को मोहित करने वाली अनेक बालाएँ जिसकी आज्ञाकारी थीं ? माता, पिता और बहुत से कुटुंबी थे, उस गुणसुंदर (अनाथी मुनि का पूर्व नाम) के शरीर में जब अकथनीय पीड़ा उत्पन्न हुई, तब उसके दुःख में भाग लेने को कोई भी मददगार न हुआ। उस समय वह नवयुवक निश्चय से समझ गया कि इतना कुटुंब होने पर भी मैं बिलकुल अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं ! हे भद्र ! एक कोटिध्वज साहूकार का पुत्र भी जब अनाथ ही समझा गया तब दूसरे सामान्यजनों की तो बात ही क्या है।

अन्त में श्मशान का ही आश्रय है

राज्यं प्राज्यं, क्षितिरतिफला, किङ्कराः कामचाराः ।
साराहारा, मदनसुभगा, भोगभूम्यो रमण्यः ॥
एतत्सर्वं भवति शरणं, यावदेव स्वपुण्यं ।
मृत्यौ तु स्यान्न किमपि विनारण्यमेकं शरण्यम् ॥१६॥

भू-मंडल का राज्य, दास, दासी, आभूषण रत्न महान् ॥
गज-गमनीयुवती, बालाएं, देने वाली जीवन दान ।
तब तक क्षणिक सुखों को देतीं, जब तक है शुभ पुण्य प्रबल ।
पुण्य अंत होने पर होता, आश्रय केवल है श्मशान ॥१६॥

बड़े २ सत्ताधारियों का राज्य, बड़े विस्तार वाली पृथ्वी, इच्छानुसार सेवा में रहकर काम करने वाले नौकर, पहिनने योग्य बड़ी से बड़ी कीमत के हार, मन को रमाने वाली, गजगामिनी सुंदर २ रमणिएं, यह सभी इस जन्म में तब तक ही उपयोगी हैं जबतक पूर्वजन्म का संचित शुभ कर्म प्रबल है, अथवा जबतक काल की सवारी नहीं आ पहुंचती है। हे भद्र ! पुण्य का अन्त आते ही या मृत्यु की झपेट लगते ही केवल मात्र जंगल अथवा श्मशान के सिवाय कोई भी स्थान इस शरीर को आश्रय नहीं देगा ।

—⊶❀⊷—

शरण क्या है ?

संसारेऽस्मिन्, जनिमृतिजरा, तापतप्ता मनुष्याः ।
सम्प्रेक्षन्ते, शरणमनघं, दुःखतो रक्षणार्थम् ॥
नो तद् द्रव्यं, न च नरपतिर्नापि चक्री सुरेन्द्रः ।
किन्त्वेको ऽयं, सकल सुखदो, धर्म एवास्ति नान्यः ॥१७॥

चारों गति में घूम घूम कर, दुख पाता है सारा जग।
धन संपत्ति होती न सहायक, हो जाती है हाय ! विलग ॥
जग का रक्षक, सदा सहायक, धर्म मात्र ही है केवल।
हे भाई ! ले शरण धर्म की, सदा उसी के पथ पर चल ॥१७॥

इस संसार में नाना गतियों में भ्रमण कर; दुख से खिन्न हुए जीवों को दुख से छूटने की इच्छा अवश्य ही होती है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि 'जब धन, वैभव, कुटुम्ब परिवार यह सभी अन्त में अलग हो जाते हैं तब इस जीव का सहायक बनकर कौन रक्षण कर सकता है ? इसका कोई रक्षक या सहायक है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर सरल और सीधा है, परन्तु उसमें पहिले विश्वास करने की आवश्यकता है। हे सखे ! अगर तुझे श्रद्धा है तो श्रद्धापूर्वक सुन—मृत्यु के समय जब अन्य सभी दूर रहेंगे उस समय एक धर्म ही मित्र की तरह सहायक बनकर तेरा रक्षण करेगा इसलिए तू उसी की शरण ले।

(३) संसार-भावना

(शिखरिणी)

अहो संसारेऽस्मिन्, विरतिरहितो जीवनिवह-
श्चिरं सेहे दुःखं, बहुविधमसौ जन्ममरणैः ॥
परावर्त्तानन्त्यं, प्रतिगगनदेशं विहितवाँ-
स्तथाप्यन्तं नाप्नोद्, भवजलनिधेः कर्मवशतः ॥१८॥

हा ! इस जग में दुःखी जीव ने, करके निश दिन पाप अपार ।
कल्प काल तक भोगे हैं दुःख, रखकर जन्म मरण का भार ॥
चौदह राजू लोक बीच, पुद्गल परिवर्तन किए अनंत ।
फिर भी इस संसार जलधि का, आया नहीं अभी तक अंत ॥१८॥

अहो ! इस संसार में पाप से छुटकारा पाये विना हर एक जीव, बहुत समय से—जन्म, जरा और मरण का दुःख निरन्तर ही सहन करते हैं । इस चौदह राजूलोक के असंख्यात प्रदेश हैं, उस हरएक प्रदेश में ही कर्म के वश से अनंतानन्त वार, जन्म, मरण कर इस जीव ने अनंत पुद्गल परावर्तन किए तो भी अब तक भी इस संसार-समुद्र का अन्त नहीं आया ।

नरक आदि गतियों के दुःख

अयं जीवः सेहे, नरककुहरे क्षेत्रजनितां ।
व्यथां शैत्यादेर्या, परवशतया चैकसमये ॥
शतैर्जिह्वानां सा, गणयितुमशक्येति जगदु-
र्व्यथा तादृक् तीव्रा, कथमिव विसोढ़ा चिरतरम् ॥१९॥

शीत घाम पीड़ा प्राणी ने, अकथनीय परवश होकर ।
एक समय में सही अरे ! जो, नर्क योनि में हा ! पड़कर ॥
शत जिह्वा से उसका वर्णन, हो सकता है नहीं कभी ।
दुःख भोगते कल्प काल भी, अन्त न आया हाय अभी ॥१९॥

जिस समय यह जीव नरकगति में गया और वहाँ शीत और गर्मी की पीड़ा एक एक समय में जितनी भोगने में आई उस पीड़ा की अगर कोई मनुष्य गिनती करने बैठे तो वह एक जीभ से तो गिन नहीं सकता परन्तु यदि किसी को सैकड़ों जीभ भी दैवयोग से मिल जांय तो उन जीभों से भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता—इतनी वेदना तो इस जीव ने एक समय में भोगी तब ऐसी वेदना कल्पों या सागरों तक इस जीव ने भोगी है तो उसकी गिनती कैसे हो सकेगी, इतनी वेदना भोगने पर भी अब तक दुःख का पार नहीं आया ।

जन्म की विचित्रता

कदाचिज्जीवोऽभून्नरपतिरथैवं सुरपति-
स्तथा चाण्डालो ऽभून्नटशवरकैवर्त्ततनुजः ॥
कदाचिच्छ्रेष्ठोऽभूत्किटिशुनकयोर्नासमभव-
न्न संसारे प्राप, क्वचिदुपरतिं शान्तिमथवा ॥ २० ॥

पुण्य कर्म से जीव कभी यह, हुआ अहो ! सुरपति,नरपाल ।
वही जीव फिर अशुभ कर्म से, हुआ नीच कुल में चांडाल ॥
मनुज योनि में हुआ कभी तो, फिर वह हुआ श्वान, मार्जार ।
फिरते, फिरते कभी शांतिमय, पाया नहीं जगत का पार ॥२०॥

किसी समय शुभ कर्म के उदय से यह जीव राजकुल में पैदा होकर बड़ा राजा हुआ या देवताओं का स्वामी इन्द्र हुआ तो कुछ समय बाद ही वही जीव अशुभ कर्म का उदय होने पर नट, कोली, धीवर, चांडाल आदि कुल में पैदा होकर नीच चांडाल हुआ। एक समय जो बड़ा साहूकार हुआ था वही दूसरे समय में दरिद्र भिखारी हुआ, एक समय जो मनुष्य योनि में पैदा हुआ था वही दूसरे जन्म में कुत्ता, बिल्ली जैसी तिर्यंच योनि में पैदा हुआ। इस तरह नाना प्रकार की विचित्रता के साथ अनंत काल से इस संसार में जीव भ्रमण करता है तो भी आज तक इस भव-भ्रमण से शांति पूर्वक छुटकारा नहीं पा सका।

सम्बन्ध की विचित्रता

पिता यस्याऽभूस्त्वं, तत्र स जनकोऽभीद्दणमभवत् ।
प्रिया या सा माता, सपदि वनिता सैव दुहिता ॥
कृता चैवं भ्रान्त्वा, जगदि बहुसम्बन्धरचना ।
भवेप्येकत्रासन्, द्विगुणनवबन्धाः किमपरे ॥२१॥

पिता कभी सुत हो जाता है, नारी हो जाती माता ।
पुत्री हो जाती है नारी, जग का है ऐसा नाता ॥
इस प्रकार इस जग में तूने, नाते किए अनेक विचित्र ।
नहीं जानता एक जन्म में, हुए अठारह नाते मित्र ! ॥२१॥

हे भव्य ! आज जिसका पिता कहलाता है, वही तेरा पुत्र पूर्वभव में अनेक बार तेरा पिता हुआ है । जो आज स्त्री कहलाती है, वही किसी समय तेरी माता थी और जो इस समय तेरी पुत्री है वह पूर्व जन्मों में तेरी स्त्री हुई है । इस तरह इस संसार चक्र में घूमते हुए तूने जितने नए नए सम्बन्ध किए हैं उनकी अगर गिनती की जाय तो तुझे यह जान कर बड़ा आश्चर्य होगा कि तूने कितने विचित्र-विचित्र सम्बन्ध किए हैं । अरे ! दूसरे भव की तो बात ही क्या कहना । एक भव में ही अठारह २ सम्बन्ध जोड़ने वाले कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के १८ सम्बन्धों की कथा क्या जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध नहीं है ?

अपार-संसार

अरण्यान्या अन्तं, द्विरदतुरगैर्यान्ति मनुजा।
लभन्ते नौकाद्यैः, कतिपयदिनैः पारमुदधेः॥
भुवोऽप्यन्तं यान्ति, प्रवररथयानादिनिवहै-
र्न संसारस्यान्तं, विपुलतरयत्नेऽपि विहिते॥२२॥

पा लेते हैं महासिंधु की, नौका द्वारा थाह अपार।
अश्वों द्वारा पा लेते हैं, महा भयानक वन का पार॥
और दिव्य गति से चल कोई, पाले पृथ्वी का भी पार।
पार न पाया पर भवदधि का, करके यत्न अनेक प्रकार।२२॥

मनुष्य इस संसार में घोड़ा, ऊँट आदि सवारियों द्वारा बड़े २ गहन जंगलों को पार कर लेता है। बड़े २ समुद्रों को भी जहाज़ या नौका आदि के द्वारा पार कर लेता है और यह पृथ्वी, जिसको मनुष्य नही पासकता कोई देव दिव्यगति से चलकर संभवतः उसका भी पार पाले। परंतु यह संसार रूपी समुद्र इतना विशाल है कि अनंत काल से उसका पार पाने के लिए इस जीव ने अनेकों उपाय किए, परन्तु आज तक उसका पार नहीं पा सका।

सांसारिक सुख का परिवर्तन

गृहे यस्मिन् गानं, पणवलयतानं प्रतिदिनं ।
कदाचित्तत्र स्याद्युवसुतमृतौ रोदनमहो ॥
क्षणं दिव्यं भोज्यं,मिलति च पुनस्तुच्छमपि नो ।
न दृष्टं संसारे, क्वचिदपि सुखं दुःखरहितम् ॥२३॥

नृत्य गान होता था जिस घर, हाय हाय हो रही वहां ।
नहीं रोटियां भी मिलतीं, लगता था षट्रस भोग जहाँ ॥
इस क्षण भंगुर जग में रहता, स्थिर सुख का साज नहीं ।
नहीं अरे ! दिखता इस जग में, दुःख रहित सुख हाय ! कहीं ॥२३॥

एक दिन जिस घर में सारंगी और सितार बज रही थी, अनेक सुन्दरी मनमोहनी कामिनियां मनोहर तान छोड़ रही थीं और रातदिन उत्सव ही बना रहता था दूसरे दिन उसी घर में जवान पुत्र की मृत्यु से छाती पीट पीट कर करुण रुदन दिखता है । जिस घर में एक समय खीर और स्वादिष्ट पकवानों का भोजन किया जाता था दूसरे समय उसी घर वालों को ज्वार और मक्का की रोटियां भी नहीं मिलतीं । एक समय जो बड़ा साहूकार बना बैठा था वही दूसरे समय भिखारी बन जाता है, इस तरह से दुनियां की धन-दौलत अगर मिल भी जाय तो उससे क्या चिरस्थायी सुख मिल सकता है ? नहीं, कभी नहीं । इस संसार में कहीं भी दुख रहित सुख देखने में नहीं आता, किसी को कुछ दुःख है तो किसीको कुछ और दूसरा ही दुख है, इस तरह जहां देखो वहीं दुःख ही दुःख देखने में आता है ।

क्या संसार में सुख नहीं है ?

तनोर्दुःखं, भुङ्क्ते विविधगदजं कश्चन जनः ।
तदन्यः पुत्र-स्त्री-विरह-जनितं मानसमिदम् ॥
परो दारिद्र्योत्थं, विपसमविपत्तिं च सहते ।
न संसारे कश्चित्सकलसुखभोक्तास्ति मनुजः ॥२४॥

कोई धन से रहित दुःखी है, कोई महा रोग पीड़ित ।
पाता कोई कष्ट मानसिक, पुत्र- विरह से हुआ दुखित ॥
कोई किसी दुःख में रत है, कोई किसी कष्ट में मग्न ।
हा ! इस जग में कोई जन भी, नहीं पूर्ण सुख में संलग्न ॥२४॥

किसी मनुष्य को तरह २ के रोग पैदा होने से महान् शारीरिक दुःख भोगना पड़ता है, किसी को स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि संबंधियों के विरोधी होने से या वियोग होने से मानसिक दुःख भोगना पड़ता है । किसी को व्यापार में नुकसान होने से दरिद्रता का दुःख खटकता है, किसी के ऊपर कोई मुकदमा आ पड़ने से उसे ज़हर के समान दुःख सहन करना पड़ता है इस तरह वास्तव में अगर देखा जाय तो इस संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य देखने में नहीं आएगा जिसे सभी तरह के सुखों का भोग मिलता हो, और जिसके दुखों का लेश मात्र भी न हो, किन्तु जहां देखो वहां दुःख ही दुःख मिलेगा ॥२४॥

संसार में अशान्ति का साम्राज्य

क्वचिद्राज्ञां युद्धं, प्रचलति जनोच्छेदजनकं ।
क्वचित् क्रूरा मारी, बहुजनविनाशं वितनुते ॥
क्वचिद् दुर्भिक्षेन, क्षुधितपशुमर्त्यादिमरणं ।
विपद्वह्निज्वालाज्वलितजगति क्वास्ति शमनम् ? ॥२५॥

महायुद्ध हो रहा कहीं पर, लाखों जन का संहारक ।
कहीं महामारी फैली है, लाखों जीवों की मारक ॥
और कहीं दुर्भिक्ष अग्नि हा ! बढ़ी जा रही अति विकराल ।
नहीं कहीं भी शांति जगत में, जलती दुःख की ज्वाल कराल ॥२५॥

अहो ! इस संसार में किसी जगह तो लाखों मनुष्यों का नाश करने वाला महान् युद्ध चलता है, किसी जगह नगर और ग्रामों का विनाश करने वाली हैज़ा, प्लेग आदि बीमारियां फैल रही हैं, किसी स्थान पर अकाल से हजारों प्राणी परलोक सिधार रहे हैं और कहीं पर जवान पुरुषों की मृत्यु से हाहाकार मच रहा है । इस प्रकार इस संसार में चारों ओर विपत्ति रूपी अग्नि की ज्वाला जल रही है । यहां पर शांति और समाधि का लेश मात्र कहीं देखने को नहीं मिलता, सभी जगह अशान्ति का घोर साम्राज्य फैल रहा है ।

(४) एकत्व—भावना

एकत्व-भावना

(*मालिनी*)

मम गृहवन माला, वाजिशाला ममेयं।
गज-वृषभ-गणा मे, भृत्य-सार्था ममेमे॥
वदति सति ममैवं, मृत्युमापद्यसे चेन्।
न हि तव किमपि स्याद्धर्ममेकं विनान्यत्॥ २६॥

यह मेरा घर यह उपवन है, यह हैं रथ, हय, गय मेरे।
यह हैं दासी, दास सभी हा !, यह मेरे सुख के डेरे॥
कहता है मेरी मेरी जग, काल काल में जब जाता।
हाय अकेला ही जाता तब, कोई साथ न चल पाता॥२६॥

इस संसार के मनुष्य कहते हैं, 'यह मेरा मकान है, यह बगीचा मेरा बनाया है, यह मेरे चढ़ने के हाथी, घोड़े हैं, यह मेरे बैल हैं और यह सभी नौकर मेरे हैं इस प्रकार हर एक चीज़ को मेरी २ कहते हैं। परन्तु हे भाई ! जिस समय मृत्यु के रास्ते पर चलना पड़ता है, उस समय कोई भी वस्तु साथ नहीं जाती उस समय तो अकेले ही चलना पड़ता है उस समय कोई भी साथी बनकर साथ नहीं चलता।

अन्त में निस्सहायता

तव किल विलपन्ती, तिष्ठति स्त्री गृहाग्रे।
प्रचलति विशिखान्तं, स्नेहयुक्तापि माता॥
स्वजनसमुदयस्ते, याति नूनं वनान्तं।
तनुरपि दहनान्तं, निस्सहायस्ततस्त्वम्॥ २७॥

मृत्यु समय पर प्यारी नारी, घर में रोती रह जाती।
माता ममतामयी द्वार तक, जाती है धुनती छाती॥
मित्र कुटुंबी श्मशान से, आगे जाते नहीं अरे!।
यह तन भी तो जल जायेगा, तुझे अकेला जाना रे!॥२७॥

जो स्त्री तेरे ऊपर प्रेम की वर्षा करती है वही मृत्यु समय विलाप करती हुई एक कोने में बैठी रहेगी। तेरे ऊपर अत्यन्त स्नेह रखने वाली माता भी घर के बाहर दरवाजे तक पहुंचाने आयगी, तेरे कुटुम्बी और मित्रगण श्मशान तक ही साथ आयेंगे, इससे आगे नहीं और तेरा शरीर जिससे तेरा अतिनिकट सम्बन्ध है, वह भी तेरा नहीं होने का, वह तो श्मशान की भूमि में जल कर ही ख़ाक हो जायगा। तुझे इन सबसे छूट कर असहाय बनकर अकेला ही जाना है।

स्त्री का स्वार्थ संसारमय है

द्विरदगमनशीला, प्रेमलीला किलेयं।
तव हृदयविरामा, केलिकामास्ति वामा।
इह जनुषि सदाप्यास्वार्थसिद्धेः सखी ते॥
मृतिमुपगतवन्तं, साश्रयेन्नो क्षणं त्वाम्॥ २८॥

तेरी प्यारी नारी जो अति, प्रेम भाव दिखलाती है।
हाव भाव से तेरे मन को, जो दिन-रात लुभाती है॥
जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, वह तब तक ही सुख देती।
मृत्यु समय पर एक मिनट का, आश्रय कभी न दे सकती॥२८॥

हे भद्र! तेरी स्त्री जो तेरे पैर पड़ती है और अत्यन्त प्रेम भाव दिखालाती है तेरे मन के माफिक चल कर तेरे हृदय को आनन्द देती है तेरे लिए अनेक तरह के हाव, भाव, विलासों को करके तेरी मनोकामना पूरी करती है, यह सब किस लिए करती है क्या तू जानता है? क्या अन्तरङ्ग प्यार को लिए हुए करती है? नहीं, नहीं, यह सब दिखलावट-स्वार्थमय प्रेम को लिए हुए हैं, जब तक तू मुँह मांगी वस्तुएं, वस्त्र, आभूषण आदि लाकर देता रहता है तब तक ही उसका यह प्यार है, किन्तु जिस समय तुझ से उसका स्वार्थ सिद्ध हो जायगा बस समझ ले उसके प्यार का भी अन्त हो जायगा, इस जन्म में स्वार्थ-सिद्धि के लिए तुझे जिसका सम्बन्ध दीख रहा है, वही स्त्री परलोक जाते समय एक मिनिट भी आश्रय दे सकेगी ऐसी आशा रखना मिथ्या है।

मित्रों की सहायता

विपुल विभवसारं, रम्यहारोपहार-
मसकृदपि च दत्त्वा तोपिता ये सखायः ॥
अतिपरिचयवन्तस्तेप्यदूरं वसन्तो ।
भयदमरणकाले, किं भवेयुः सहायाः ॥ २६ ॥

देकर धन-वैभव अपार, जिन मित्रों को अपनाता है ।
दे उपहार अनेक तरह के, जिनको गले लगाता है ॥
गाढ़ प्रेमरस सने मित्र वे, अंत समय आने पर हाय ! ॥
नहीं सहायक होंगे तेरे, तुझे छोड़ देंगे असहाय ॥२९॥

जिन मित्रों को अपार संपत्ति देकर तथा उत्तम हार और मालाओं का उपहार देकर प्रसन्न किया है तथा जिनके साथ बहुत समय का गाढ़ा परिचय है और अत्यन्त निकट सम्बन्ध है । वे मित्र अंत समय की बीमारी में बिल्कुल पास बैठे हुए भी तेरे दुख को अपने ऊपर लेकर क्या तेरी कुछ भी सहायता कर सकेंगे या परभव जाते हुए तेरे साथ चल सकेंगे ? नहीं, कदापि नहीं । जीवन का अंत आने पर मित्रों की मित्रता का भी अंत आजायगा । यह तू निश्चय रख तुझे अंत समय अकेला ही जाना पड़ेगा ।

द्रव्य भी साथ नहीं आता

वहुजनमुपसेव्योपार्जितं द्रव्यजातं ।
रचितमतिविशालं, मन्दिरं सुन्दरं वा ॥
मृतिपथमवतीर्णे वेदनानष्टभाने ।
क्षणमपि नहि किञ्चित्त्वत्पथं चानुगच्छेत् ॥ ३० ॥

निज प्राणों को न्योछावर कर, सेवा कर जोड़ा है धन।
मोह भाव से अरे! वनाए, तूने जो ये उच्च भवन॥
मृत्यु वेदना में पड़ जिस दम, तू मूर्छित होगा रे हाय!।
नहीं एक क्षण साथ चलेंगे, तुझे छोड़ देंगे असहाय॥३०॥

जिस द्रव्य को अनेक मनुष्यों की सेवा करके, जान को जोखम में डालकर इकट्ठा किया है, ऊंची २ खूब सूरत अटारिएं बनाई हैं, हे भाई! यह सब तेरे सहायक वनकर क्या तेरे साथ चल सकेंगे? कदापि नहीं। जिस समय अंत समय की वेदना से तू वेहोश हो जायगा और परलोक की तरफ चलना पड़ेगा उस समय धन, संपत्ति और हवेली एक क्षण के लिए भी तेरा साथ नहीं करेगी, मृत्यु के रास्ते पर इन सबको छोड़ कर तुझे अकेला ही जाना पड़ेगा।

खाली हाथ जाना पड़ेगा

समजनि जनिकाले, मानवो वस्त्र-वित्ता-
शनऽजन-बलहीनो, बद्धमुष्टिस्तथापि ॥
वदति तव महत्त्वं, पुण्यशालित्वमेत-
न्मृतिसमयकरोऽयं, रिक्तभावं व्यनक्ति ॥ ३१ ॥

धन,जन,वस्त्र,विभव,बल तेरे, जन्म समय पर साथ न था।
नग्न रूप होने पर भी तू, मुट्ठी बांधे आया था॥
बंधी हुई मुट्ठी कहती थी, पुण्य साथ में लाता है।
कहते खुले हाथ यह तेरे, हा ! सब छोड़े जाता है॥३१॥

हे मित्र ! जिस समय तेरा जन्म हुआ उस समय, पहिरने के कपड़े खर्च करने को धन, खाने को अनाज, सेवा करने को नौकर और शरीर का बल इनमें से तू कुछ भी अपने साथ नहीं लाया था, केवल नग्न रूप शरीर के साथ तेरा जन्म हुआ था, तो भी उस समय तेरी मुट्ठिएं बन्द थीं और वह बंधी हुए मुट्ठिऐं तेरी महत्ता और भावी सुख देने वाले पुण्य का अस्तित्व सूचित करती थीं। किन्तु मृत्यु के समय तो हाथ खुले रहते हैं और वह यही सूचित करते हैं कि "यहाँ का मिला यहीं पड़ा रहा और खाली हाथ जाना पड़ता है"। मेहनत की और बहुत मिला; परन्तु हाथ में कुछ रहा नहीं।

फिर ममता क्यों ?

प्रतिदिवसमनेकान्प्राणिनो निःसहाया-
न्मरणपथगतांस्तान्प्रेक्षते मानवो ऽयम् ॥
स्वगतिमपि तथा तां, बुध्यते भाविनीं वा ।
तदपि नहि ममत्वं, दुःखमूलं जहाति ॥ ३२ ॥

एक मिनट में अहो इस समय, जन तेतीस मृत्यु पाते ।
निर्धन,धनिक सभी मरते पर, साथ नहीं कुछ ले जाते ॥
'मेरी भी यह ही गति होगी, साथ नहीं कुछ भी जाता ।
हाय जानता हुआ जीव यह, नहीं छोड़ता है ममता ॥३२॥

इस समय की गणना के अनुसार इस पृथ्वी पर एक मिनिट में तेतीस आदमी मृत्यु को पाते हैं। जिसमें गरीब भी मरते हैं और अमीर भी मरते हैं, परन्तु किसी के साथ में कुछ भी जाता हुआ देखने में नहीं आता है। हर एक मनुष्य अकेला ही परलोक को जाता हुआ दिखता है। इनको जाते हुए देखने वाला मनुष्य भी 'मेरी भी यही गति होगी' ऐसा समझता है, परन्तु फिर भी दुःख देनेवाली ममता को नहीं छोडता।

राजा महाराजा भी चले गये

दिशि-दिशि ततकीर्तिर्भोजभूपः सुनीती ।
रिपुकुलबलदारी, विक्रमो दुःखहारी ॥
अकबरनरपालो, दुर्नयारातिकालो ।
मरणमुपययुस्ते, मृत्युना निःसहायाः ॥ ३३ ॥

जग में यश फैला था जिनका, थे जो अतिशय नीतिकुशल ।
दानी महा, वीर बलशाली, ऐसे नृपगण अहो सकल ॥
राजा भोज, शाह अकबर से, हुए काल के जब आधीन ।
छोड़ गए सब वस्तु यहीं पर, गए अकेले होकर दीन ॥३३॥

जिनकी कीर्ति देश विदेश में चारों तरफ फैल रही थी और जिनका व्यवहार बहुत ही अच्छा था ऐसे महादानी राजा भोज तथा शत्रुओं के दल को कँपानेवाले और प्रजा का दुःख दूर करने वाले महाप्रतापी राजा विक्रम और अन्यायरूपी दुश्मन को काल के समान बादशाह अकबर, यह सब जिस समय मौत के आधीन हुए उस समय फौज, खज़ाना और रनवास इन सबको छोड़ कर अकेले ही गए हैं, कोई किसी को साथ नहीं लेजा सके । अतः यह निश्चित है कि यह जीव अकेला आया है और अकेला ही जायगा ।

---

(५) अन्यत्व-भावना

विनाशी संयोग

(वसन्ततिलका)

कोऽहं जगत्यथ कदाप्रभृति स्थितिर्मे ।
माता पिता च तनुजा मम के इमे स्युः ॥
संयोग एभिरभवन्मम किंनिमित्त-
स्तत्त्वं विचिन्तय च पञ्चमभावनायाम् ॥ ३४ ॥

मैं हूं कौन ? कहाँ से आया, मुझे कहां पर जाना है ।
कौन जगत में मेरा है, इस जग में कहाँ ठिकाना है ? ॥
माता, पिता, पुत्र, नारी यह, मेरे कौन जगत भीतर ? ।
किस कारण संबंध हुआ है ? कर विचार इस का हे नर ! ॥३४॥

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरे माता पिता,स्त्री पुत्र वगैरह सब कौन हैं । इनके साथ मेरा संबंध किस कारण से हुआ-यह सब विचार तू इस पाँचवीं भावना में कर ।

अल्पकालिक सम्बन्ध

गावो हया गजगणा महिपा भुजिष्या ।
वेश्मानि वैभवचया नववाटिकाश्च ॥
एभिस्तवास्ति कियता समयेन योग-
स्तत्त्वं विचिन्तय च पञ्चमभावनायाम् ॥ ३५ ॥

रथ घोड़े, हाथी यह वैभव, दासी दास, फ़ौज डेरा ।
जिनको तू इस जग में रहकर, कहता है मेरा मेरा ॥
कब तक तेरे साथ रहे हैं, और रहेंगे कब तक रे ! ।
थोड़े दिन के लिए मिले हैं, कर तू हृदय विचार अरे ! ॥३५॥

जिनको तू अपनी मानता है वह गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा-दासी, दास घरबार, हाट, हवेली, बाग बगीचा और वैभव इनके साथ कितने समय से तेरा संबंध है और वह संबंध कितने समय तक रहेगा इस विचार को तू इस पांचवीं भावना में कर ।

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध

एतच्च पुद्गलमयं क्षणिकं शरीर-
मात्मा च शारदशशाङ्कसदृक्षरूपः ॥
बन्धस्तयोर्भवति कर्मविपाकजन्यो ।
देहात्मधीर्जडधियामविवेकजन्या ॥ ३६ ॥

यह तन आत्मा रूप नहीं है, जड़ स्वरूप है पुद्गल रूप ।
इससे भिन्न आत्मा तेरा, शरद्-चन्द्र सा विमल अनूप ॥
अरे ! कर्मफल से चेतन से, एकमेक है हुआ शरीर ।
जड़ को आत्म मानना भ्रम है, जड़वादी सम हे मतिधीर ! ॥३६॥

यह शरीर जो तुझे आँखों से दिख रहा है वह आत्मारूप नहीं है किन्तु पुद्गल-जड़ स्वरूप है और एक क्षण में ही नाश को पाने वाले स्वभाव वाला है । आत्मा जड़ नहीं है चैतन्य स्वरूप है, शरद् काल के चन्द्रमा के समान निर्मल प्रकाशवान् है तथा नित्य-अखंड और अविनाशी है । आत्मा और कर्म का जो संबंध हुआ है-वह कर्म की वर्गणाओं के संबंध से हुआ है, परंतु यथार्थ संबंध नहीं है । इस तरह आत्मा और शरीर के अलग २ होने पर जो तू शरीर को ही आत्मा मान लेता है; यह भ्रम है । ऐसा भ्रम अज्ञानी जड़वादी को ही होता है ।

शरीर की दुर्बलता में आत्मा की दुर्बलता नहीं

रोगादिपीड़ितमतीव कृशं विलोक्य ।
किं मूढ़! रोदिषि विहाय विचारकृत्यम् ॥
नाशे तनोस्तव न नश्यति कश्चिदंशो ।
ज्योतिर्मयं स्थिरमजं हि तव स्वरूपम् ॥ ३७ ॥

रोगादिक से पीड़ित हो जब, यह तन दुर्बल होता है।
अविचारी बन अरे! मूढ़ क्यों?, तू इसके हित रोता है॥
तनके कभी नष्ट होने से, होता नहीं जीव का नाश।
ज्योति स्वरूप, अचल अविनाशी, तेरा तो है आत्म-प्रकाश ॥३७॥

हे मूढ़ ! जिस समय शरीर में कोई रोगादिक होता है, या तप अथवा परमार्थ का काम करते हुए शरीर को थोड़ी सी तकलीफ होती है उस समय तू दुखित होकर जो व्यर्थ ही रोने लगता है यह तेरी कितनी मूर्खता है ? क्या शरीर के घिसने से तेरी आत्मा का कोई अंश घिस जाता है ? नहीं, कदापि नहीं । आत्मा तो ज्योतिःस्वरूप और अक्षय तथा अचल है ।

वहिरात्मभाव का त्याग

मृत्युर्न जन्म न जरा न च रोगभोगौ ।
हासो न वृद्धिरपि नैव तवास्ति किञ्चित् ॥
एतान्तु कर्ममयपुद्गलजान् विकारान् ।
मत्वा निजान् भजसि किं वहिरात्मभावम् ॥ ३८ ॥

जन्म, वुढ़ापा, मृत्यु, रोग ये, पुद्गल के हैं सभी विकार ।
नहीं आत्मा के स्वभाव यह, ऐसा अपने हृदय विचार ॥
कर्म जनित पुद्गल भावों को; क्यों तू अपना कहता है ।
छोड़ अरे ! वहिरात्मभाव, निज-आत्म नहीं क्यों लखता है ॥३८॥

जन्म, जरा, मरण, रोग, भोग, हानि और लाभ यह सभी धर्म शरीर के हैं । इसमें से एक भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह सभी भाव, कर्म-पुद्गल के विकार हैं । पुद्गल के विकार पुद्गल रूप शरीर को ही लागू हो सकते हैं परंतु आत्मा को लागू नहीं पड़ सकते । हे आत्मन् ! पुद्गल के विकारों को अपना मान कर वहिरात्मभाव किस-लिए भजता है और दूसरों के हानि लाभ में किसलिए दुःखी होता है ।

आत्मा में जन्ममृत्यु व्यपदेश क्यों होता है ?

जन्योऽस्ति नो न जनकोऽस्ति भवान् कदाचित् ।
सच्चित्सुखात्मकतया त्वमसि प्रसिद्धः ॥
रागाद्यनेक - मल - लब्ध - शरीर - सङ्गैः ।
जातो मृतोऽयमिति च व्यपदेशमेसि ॥ ३६ ॥

तू न किसी से पैदा होता, कोई नहिं पैदा करता ।
तू सत्, चित्, आनंद रूप है, ऐसा सारा जग कहता ॥
पुद्गल की संगति होने से, जग तुझको मरता कहता ।
तू न जन्म लेता मरता है, क्यों निज रूप नहीं लखता ॥३९॥

हे आत्मन्! तू किसी से भी पैदा नहीं हुआ। कोई तेरा पैदा करने वाला नहीं है। तेरी उत्पत्ति नहीं और विनाश भी नहीं, तू तो नित्य-सत्-चित् और आनंदरूप सभी जगह मशहूर है। तब यह जीव इस गति में पैदा हुआ, यह जीव मर गया ऐसा व्यवहार क्यों होता है ? यह एक प्रश्न है। अरे भाई ! इसका उत्तर यही है कि राग द्वेष रूपी बीज से पैदा हुए कर्म अंकुर से पाये हुए शरीर का संग जो आत्मा के साथ लगा हुआ है इससे ही जन्म मृत्यु का व्यवहार आत्मा के साथ होता है, यथार्थ में तो यह स्वभाव शरीर का ही है परंतु संग में होने के कारण एक का धर्म दूसरे का कहा जाता है।

कुटुम्बियों का संयोग पत्तो और पेड़के संयोग के समान है

भार्या स्नुषा च पितरौ स्वसृपुत्रपौत्रा ।
एते न सन्ति तव केऽपि न च त्वमेषाम् ॥
संयोग एष खग-वृक्षवदल्पकाल-
एवं हि सर्वजगतोऽपि वियोगयोगौ ॥ ४० ॥

माता, पिता, पुत्र नारी का, योग हुआ जो जग में रे ! ।
यह सब तुझसे भिन्न रूप है, तू है इनसे भिन्न अरे ! ॥
रात्रि समय में पक्षी रहकर, प्रातः उड़ जाते हैं दूर ।
उसी तरह सब आन मिले हैं, हैं वियोग दुख से भरपूर ॥४०॥

हे भद्र ! एक घर में तू माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पौत्र और पुत्र-वधू इन सबके साथ रहता है और आपस के सभी संबंध जोड़ता है । परंतु यथार्थ में तो यह सब तुझ से जुदे हैं और तू इन सब से जुदा है । इनके साथ तेरा संबंध केवल वृक्ष और पक्षियों के संबंध जैसा है । जिस तरह संध्या के समय पक्षीगण अनेक दिशाओं से आकर एक वृक्ष पर बैठते हैं और रात्रि को वहाँ विश्राम लेकर सवेरा होते ही सब दिशाओं को चले जाते हैं । उसी प्रकार एक घर में नाना गतियों से आए हुए कुटुंबी लोग इकट्ठे हुए हैं परंतु आयु रूपी रात्रि पूरी होते ही वे सब जुदे हो जायेंगे । संसार के सभी संबंध इसी तरह वियोग को लिए हुए हैं ।

न मैं किसी का और न कोई मेरा

एकैकजन्मनि पुनर्बहुभिः परीतः ।
प्रान्ते तथापि सहकारिविनाकृतस्त्वम् ॥
तस्माद्विभावय सदा ममतामपास्य ।
किञ्चिन्न मेऽहमपि नास्मि परस्य चेति ॥ ४१ ॥

पिछले जन्मों में जोड़े हैं, तूने जो संबंध अनेक ।
हुआ नहीं संबंध जिन्हों से, ऐसा जीव न कोई एक ॥
अंत समय वह हुए न साथी, अब क्या देंगे तेरा साथ ।
ममता त्याग, न कोई तेरा, हैं सबही संबंध अनाथ ॥४१॥

तूने पिछले अनेक जन्मों में अनेक जीवों के साथ सम्बन्ध जोड़ा है अगर ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो इस संसार में ऐसा कोई भी जीव नहीं जिसके साथ माता,पिता, पुत्र, स्त्री आदि के रूप में संबंध न हुआ हो। इतना बहुत बड़ा संबंध जोड़ने पर भी इस जन्म से पूर्व भव का कोई भी संबंधी साथी नहीं होता तो फिर इस समय के संबंधी अन्त में हमारे साथ चलेंगे इसका क्या विश्वास है ? कुछ भी नहीं । तो फिर किसलिए ममता करता है । छोड़दे इस ममता को और मनमें निश्चय कर कि मेरा—कोई भी नहीं है ।

इति अन्यत्व भावना ।

(६) अशुचि-भावना

निन्द्य शरीर में मोह क्या ?

(मत्तमयूर)

दृष्ट्वा बाह्यं, रूपमनित्यं क्षणकान्तं ।
हे मित्र ! त्वं, मुह्यसि किं फल्गुशरीरे ॥
नान्तर्दृश्यं, रोगसहस्राश्रितमेतद् ।
देहं निन्द्यं, रम्यमिमं ज्ञः, कथयेत् कः ? ॥ ४२ ॥

ऊपर से जो रूप तुझे, क्षण भर को सुन्दर दिखता है।
उसे देखकर अरे ! मूढ़ ! क्यों, मोह जाल में फँसता है ॥
देख जरा तो भीतर इसके, रोग हजारों का घर है।
मलिन निन्द्य यह, कौन सुधी जन, इसे कहेगा सुन्दर है ॥४२॥

हे भद्र ! इस शरीर का बाहिरी रूप जोकि एक क्षण के लिए मनोहर होकर दूसरे क्षण में ही अमनोहर हो जाता है इस अनित्य रूप को देखकर इस निःसार शरीर में क्यों मोह को प्राप्त होता है ? यह शरीर अंदर तो रोगों से भरा हुआ है हजारों व्याधियों का स्थान है और इस शरीर के संग में अनेकों कष्ट इस जीव को सहना पड़ते हैं। अरे ! यह शरीर केवल ऊपर से देखने में ही सुन्दर मालूम पड़ता है जरा चमड़ा उतार कर अन्दर तो देख ! तुझे सिवाय हाड़, मांस और रुधिर के कोई दूसरी वस्तु नहीं मिलेगी इसलिए घृणित और तुच्छ वस्तुओं से भरे हुए इस शरीर को कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य कैसे रमणीक कहेगा।

शरीर को कौन पवित्र समझेगा ?

चर्माच्छन्नं, स्नायुनिबद्धास्थिपरीतं ।
क्रव्यव्याप्तं, शोणितपूर्णं मलभाण्डम् ॥
मेदोमज्जामायुवसाढ्यं कफकीर्णं ।
को वा प्राज्ञो, देहमिमं वेत्ति पवित्रम् ? ॥ ४३ ॥

देख अरे ! यह तन ऊपर से, चमड़े से है मढ़ा हुआ ।
नसा जाल है बिखरी इसमें, मांसपिंड है सड़ा हुआ ॥
रक्त पूर्ण मल घड़ा अरे! यह, मज्जा, मेद, पित्त-कफ-मय ।
ऐसे घृणित देह को ज्ञानी, कौन कहेगा शोभामय ॥४३॥

इस शरीर को अंतर दृष्टि से देखा जाय तो इसमें क्या दिखता है—ऊपर तो चमड़े का वेष्टन लगा हुआ है और इसके बीच में छोटी मोटी हड्डियें एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं चमड़े के नीचे मांस का लोथ है और उसके ऊपर पतली मोटी अनेक नसें फैली हुई हैं। उसमें होकर सारे शरीर में रक्त फिरा करता है, चरबी, मज्जा, पित्त, कफ और विष्ठा से सारा शरीर व्याप्त हो रहा है, ऐसे गंदे अरमणीय शरीर को कौन बुद्धिमान् मनुष्य सुन्दर और पवित्र कहेगा ? कोई भी नहीं ।

शरीर के अवयव अपवित्र हैं

चक्षुर्युग्मं, दूषिकयाक्तं श्रुतियुग्मं ।
कीट्ट व्याप्तं, सन्ततलालाकुलमास्यम् ॥
नासाजस्रं, श्लेष्ममलाढ्यान्तरदेशा ।
गात्रे तत्त्वं, नोच्चतरं किञ्चन दृष्टम् ॥ ४४ ॥

दोनों नेत्र भरे कीचड़ से, कान मैल से वहता है ।
श्लेष्म नाक से वहता है रे, मुँह से राल निकलता है ॥
यह उपयोगी अंग सभी हैं, घृणित मैल से सदा भरे ।
तब फिर इस शरीर में पावन, वस्तु मिलेगी कहां अरे ! ॥४४॥

अपने शरीर के कुल उपयोगी अवयवों को तो देखो वह कितने पवित्र हैं ? आँखों में तो कीचड़ भरा है कान से हमेशा मैल निकलता है, मुँह से राल और थूक निकलता है नाक में से श्लेष्म और मैल वहता है तब फिर पवित्रता कहाँ रक्खी है ? जो भाग उपयोगी और पवित्र समझे जाते हैं जब वही महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए हैं तो फिर इस सारे शरीर में कोई पवित्र वस्तु कहाँ देखने को मिल सकती है ।

पेट और जिह्वा की रचना

वीभत्सोयं, कीटकुलागारपिचण्डो।
विष्ठावासः, पुक्कसकुण्डाऽप्रियगन्धः ॥
लालापात्रं, मांसविकारो रसनेयं ।
दृष्टो नांशः, कोपि च काये रमणीयः ॥ ४५ ॥

जठर देख जो अन्न पचाता, है वह कीड़ों का भंडार ।
विष्ठा, मूत्र निकट रहता है, चर्म रूप सम वदवूदार ॥
जिससे सदा स्वाद लेता वह, रसना मांस पिंड है रे !
तन का एक भाग भी सुन्दर, नहीं मिलेगा तुझे अरे ! ॥४५॥

जो जठर अन्न को पचाता है और शरीर का एक प्रधान अवयव है, उसकी भी रचना और स्वरूप देख कितना भयंकर और वीभत्स लगता है। अनेक जाति के छोटे २ क्रमि उसमें पैदा होते हैं, उसके निकट ही विष्ठा और मूत्र रहने का स्थान है जिसकी गंध चमार कुंड जैसी अप्रिय है। वह जीभ, जिससे बोलते तथा स्वाद लेते हैं देख तो किस की बनी है? क्या सोने, चाँदी, कस्तूरी या कपूर की है ? नहीं, वह तो मांस का एक पिंड है भीतर महा अरमणीय है। अहा ! शरीर के सभी भागों की तलाश कर देखने पर एक भी भाग देखने में सुन्दर नहीं आता।

शारीरिक भयंकर रोग

कण्डू-कच्छू-स्फोटकफार्शो-व्रणरोगैः ।
कुष्टैः शोफैर्मस्तकशूलैर्भयशोकैः ॥
कासश्वास-च्छर्दि-विरेक-ज्वर-शूलै-
र्व्याप्तो देहो, रम्यतरः स्यात्कथमेषः ॥ ४६ ॥

कुष्ठ रोग से बाधित कोई, दाद खाज से मढ़ा हुआ ।
ववासीर से, उदर शूल से, फोड़ों से है सड़ा हुआ ॥
खांसी, श्वाँस, वमन, ज्वर दुख का, होता रहता कष्ट अहो ! ।
रोगों के भंडार देह को, कौन कहेगा रम्य कहो ॥४६॥

अरे रे ! कोई २ शरीर दाद से इतना भरा हुआ है कि उँगली रखने को भी जगह खाली नहीं दिखती । कोई शरीर खाज से घिरा हुआ दिखता है जिसमें बड़े २ घाव पड़े हुए हैं । कोई फोड़ों से छाया हुआ है कोई शरीर ववासीर की व्याधि से पीड़ित है, कोई कोढ़ से सफेद लाल बना हुआ है कोई सूजन से स्थूल और भयंकर दिखता है, किसी को खाँसी, किसी में सिरदर्द, किसी में दमा, किसी में उलटी, किसी में अतीसार, ज्वर, शूल और मूत्रकृच्छा रोग से अत्यंत वेदना होती दिख रही है । अरे ! जिसका वर्णन करते हुए दुःख पैदा हो जिसकी अपेक्षा मौत भी तुच्छ गिनी जाय ऐसी त्रासदायक वेदना पैदा करनेवाले अनेक रोगों से भरा हुआ यह शरीर किस प्रकार मनोहर हो सकता है ? किसी तरह भी नहीं ।

शारीरिक अपवित्रता

यत्सङ्गात् स्वादु, भोज्यमुपात्तं रमणीयं ।
दुर्गन्धाढ्यं, कृमिकुलबहुलं क्षणमात्रात् ॥
मूल्यं-वस्त्रं, स्वच्छमपि स्यान्मलदुष्टं ।
सोऽयं देहः, सुन्दर इत्थं कथयेत्कः ॥ ४७ ॥

जिसकी संगति से अति सुन्दर, मिष्ट सुगंधित भोजन भी।
अति दुर्गन्धित, कृमि से पूरित, होता क्षण में हाय सभी॥
मूल्यवान् कपड़े क्षण भर में, तुच्छ मलिन बन जाते हैं।
ऐसी मलिन देह को सुन्दर, कौन मूढ़ बतलाते हैं ? ॥४७॥

जिसकी संगति से सुन्दर, सुगंधित और स्वादिष्ट भोजन भी-दुर्गंध-वाला नीरस बन जाता है, और एक क्षण मात्र में ही बिगड़ जाता है इतना ही नहीं परन्तु उसमें छोटे मोटे कृमि पैदा हो जाते हैं। जिसके स्पर्श से स्वच्छ और कीमती ज़री और रेशमी वस्त्र भी तुच्छ और मलिन बन जाते हैं ऐसे इस शरीर को, ऐसा कौन है जो सुन्दर कहेगा।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का शरीर

यस्य श्लाघा, देवसभायां विबुधाग्रे ।
भूयो भूयो, गोत्रभिदातीव कृतासीत् ॥
देहो ग्रस्तः, सोऽपि चतुर्थस्य च सार्व-
भौमस्याहो, षोडशरोग्या समकालम् ॥ ४८ ॥

देवसभा में देवराज ने, अहो ! प्रशंसा की सुन्दर ।
सुन्दर रूप देखने जिसका, आया सुर इस पृथ्वी पर ॥
सनत्कुमार चक्रवर्ती का, क्षण भर में वह सुन्दर तन ।
सोलह रोगों से पीड़ित हो, नष्ट हो गया हा ! तत् क्षण ॥४८॥

देवलोक में इन्द्र ने देवताओं की सभा में जिस शरीर के रूप और सुन्दरता की वार वार प्रशंसा की थी, और जिस शरीर के देखने को देवता नर लोक में आए थे, उस सनतकुमार चक्रवर्ती का अत्यंत सुन्दर शरीर भी एक क्षण मात्र में एक साथ ही श्वास, खांसी, कोढ़ भगन्दर आदि बड़े२ सोलह रोगों के समूह से व्याप्त होकर नाश को प्राप्त होगया । अरे ! महा पुण्य योग से मिले हुए चक्रवर्ती के अधिक लावण्य वाले शरीर को भी जब नाश होते देर नहीं लगी, तो फिर साधारण शरीर कोविनश ते क्या देर लगेगी ?

अशुचि भावना का उपसंहार

ज्ञात्वा गर्ह्यं फल्गुपदार्थोचितकायं ।
मुक्त्वा मोहं तद्विषयं भोगनिकायम् ॥
लब्धुं लाभं मानवतन्वा कुरु कामं ।
धर्मं ज्ञान-ध्यान-तपस्यामयमर्हम् ॥ ४६ ॥

घृणित वस्तु से भरे हुए, इस तन को मलिन जानकर नित्य ।
अरे! मूढ़!! इससे तू अपना, अंध मोह दे त्याग अनित्य ॥
विषय भोग इच्छा को तज कर, करले शीघ्र आत्म कल्याण ।
ज्ञान, ध्यान, तप मयी धर्म का, कर सेवन ले पद निर्वाण ॥४९॥

हे भद्र ! सार रहित तुच्छ पदार्थों से भरे हुए, इस शरीर को मलिन और तुच्छ जान कर उसके ऊपर का अंध प्रेम मोह छोड़दे । विषय भोग की वासना को कम कर अथवा जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक दे । इस मानव शरीर में से आत्मकल्याण तथा मोक्ष की प्राप्ति रूप उत्तम लाभ लेने के लिये ज्ञानी पुरुषों के बतलाए हुए ज्ञान व ध्यान और तप-मयी पवित्र धर्म का सेवन कर जिससे कर्म का बंधन टूट जाय और संसार का फिरना छूट जाय ।

आश्रव-भावना

मिथ्यात्व

(भुजङ्गप्रयात)

पटोत्पत्तिमूलं यथा तन्तुवृन्दं ।
घटोत्पत्तिमूलं यथा मृत्समूहः ॥
तृणोत्पत्तिमूलं यथा तस्य बीजं ।
तथा कर्ममूलं च मिथ्यात्वमुक्तम् ॥ ५० ॥

वस्त्रों के बनने में होता, जैसे सूत मूल कारण ।
घट बनने में होती है ज्यों, मिट्टी अहो ! मुख्य साधन ॥
तृण पैदा करने में होता, बीज मूल कारण है ज्यों ।
कर्म बंध का इस जग में, मिथ्यात्व मूल कारण है त्यों ॥५०॥

जिस प्रकार वस्त्र की उत्पत्ति में तंतु का समूह प्रधान कारण है, घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी का समूह मुख्य कारण है और जमीन के ऊपर जो असंख्य अंकुर उगते हैं उनका मूल कारण बीज है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्मों की उत्पत्ति और उसका विस्तार बढ़ाने का प्रधान कारण शास्त्रवेत्ताओं ने मिथ्यात्व कहा है। अर्थात्–आत्म प्रदेश में कर्म आने के जो कारण हैं वह ५ हैं उनमें मुख्य मिथ्यात्व है।

अव्रत

प्रवृद्धैर्जनैरर्जिते द्रव्यजाते ।
प्रपौत्रा यथा स्वत्ववादं वदन्ति ॥
भवानन्त्यसंयोजिते पापकार्ये ।
विना सुव्रतं नश्यति स्वीयता नो ॥ ५१ ॥

पिता आदि द्वारा संचित धन, होने से अधिकार कभी ।
बिना कमाए ही पुत्रों को, मिल जाता ज्यों अहो ! सभी ॥
उसी तरह पिछले पापों का, इस भव में फल मिलता है ।
ज्ञानी जन इसलिए पाप से, सदा विरत ही रहता है ॥५१॥

जिस प्रकार बाप, दादा की लक्ष्मी उनके पुत्रों को मिलती है–जिन्हों ने उस धन को इकट्ठा करने में कोई भी काम नहीं किया और न भाग ही लिया–परन्तु उनको हक मिलता है । उसी प्रकार पिछले अनंत भवों में इस जीव ने जो पाप कर्म के साधन किए थे उनके साथ इस जन्म में यद्यपि उसका प्रत्यक्ष संबंध नहीं दिखता–तो भी जब तक उन पाप स्थानों का मन, वचन, काय से त्याग नहीं किया, अव्रत को त्याग कर व्रत धारण नहीं किया, तब तक पूर्व कर्मों का संबंध नष्ट नहीं होता । जिससे उस पूर्व जन्म की पापक्रिया का फल जीव को इस जन्म में भी लगता है । इस लिए तू समस्त पापों को छोड़ दे ।

प्रमाद

गवाक्षात्समीरो यथा ऽऽयाति गेहं ।
तडागं च तोयप्रवाहः प्रणाल्याः ॥
गलद्वारतो भोजनाद्यं पिचण्डं ।
तथात्मानमाशु प्रमादैश्च कर्म ॥ ५२ ॥

खिड़की अथवा द्वारों से ज्यों, पवन गेह में आता है ।
झरने से जल आकर जैसे, सरोवरों में जाता है ॥
भोजन, पान, गले के द्वारा, उदर मध्य ज्यों जाता है ।
त्यों प्रमाद से कर्म निरंतर, आत्म द्रव्य में आता है ॥५२॥

जिस तरह खिड़की अथवा दरवाजों से हवा घर में आती है, झरने से तालाब के अन्दर पानी का प्रवाह आता है और गले से अन्न, पानी आदि खुराक पेट में प्रवेश करती है–उसी तरह मद, विषय, कषाय निद्रा और विकथा रूप प्रमाद के द्वारा कर्मों का प्रवाह आत्मा में निरन्तर चला आता है इसलिए कर्म को रोकने के लिए भव्य जीवों को प्रमाद का द्वार बंद करने का उपाय करना चाहिए ।

कषाय

निशायां वने दुर्गमे निःसहाया-
द्धरन्ते धनं दस्यवो भीतियुक्ताः ॥
कषायास्तु नक्तंदिवं सर्वदेशे ।
कुकर्मास्त्रमाश्रित्य शक्तिं हरन्ति ॥ ५३ ॥

रात्रि समय में, निर्जन वन में, निःसहाय जन का ही धन।
हर लेते हैं अहो ! चोर गण, रहते हैं भयपूरित मन ॥
पर यह दुरित कषाय चोरगण, हा ! निर्भय होकर निश दिन ।
अशुभ कर्म शस्त्रों के बल से, हरते ज्ञान, चरण, शुभधन ॥५३॥

क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय कहलाते हैं ये चारों कषाय बड़े भारी लुटेरे हैं। धन को हरने वाले चोर तो रात्रि को ही चोरी करते हैं तिस पर भी जहां मनुष्यों का आना जाना न हो ऐसे जंगल अथवा शून्य प्रदेश में जब कोई पुलिस का आदमी या कोई अन्य सहायक न हो तो वह लुटेरे धनवान् मनुष्य को ही लूटते हैं वह भी निर्भय रूप से नहीं किन्तु पकड़े जाने अथवा मारे जाने का उन्हें सदा ही भय लगा रहता है। परन्तु यह कषाय रूपी लुटेरे तो रात्रि दिन, जंगल में और नगर में बसते हुए निर्भय रूप से तीव्र रस वाले अशुभ कर्म रूप शस्त्रों को फेंक कर आत्मा की समस्त ज्ञान और चरित्र संपत्ति को लूट लेते हैं। हे भद्र ! अगर तुझे अपनी आत्म संपत्ति बचाना है तो कषाय रूपी इन लुटेरों से सावधान होकर अलग ही रह ।

योग

सुवृष्टौ यथा नो नदीपूररोधः ।
प्रवृत्तौ यथा चित्तवृत्तेर्न रोधः ॥
तथा यावदस्ति त्रिधा योगवृत्ति-
र्न तावत्पुनः कर्मणां स्यान्निवृत्तिः ॥ ५४ ॥

मन की बुरी वासनाओं का, वश में करना कठिन महान।
वर्षा ऋतु का नदी पूर भी, लेना रोक कठिन लो जान ॥
कर्मों का अति वेग रोकना, महाकठिन भी है तब तक ।
मन, वच, तन की दुष्ट चाल, हा ! चलती रहती है जब तक ॥५४॥

मन, वचन और काय की हलन चलन क्रिया से योग होता है। जिस समय वर्षा काल में घोर जल बरस रहा हो उस समय नदी का पूर रोकना जितना कठिन होता है, अथवा जिस समय मन बड़े वेग से किसी विषय की ओर दौड़ा जा रहा हो उस समय उसका रोकना अत्यंत कठिन होता है। उसी प्रकार जब तक मन, वचन और काय की दुष्ट प्रवृत्ति चलती रहती है तब तक कर्मों का आना नहीं रुक सकता। यह योग रूपो आश्रव प्रकृति और प्रदेश बन्ध में सहायक होता है इसलिए इसे भी रोकना चाहिए।

आश्रव और बन्ध का कार्यकारणभाव

प्रदेशा असंख्या मता आत्मनो ज्ञै-
र्निबद्धा अनन्तैश्च कर्माणुभिस्ते ॥
न तद्बन्धने कारणं विद्यतेऽन्य-
द्विहायाश्रवान् पञ्च मिथ्यात्वमुख्यान् ॥ ५५ ॥

आत्मा के प्रदेश सब ही जो, असंख्यात हां होते हैं।
कर्मों के अनंत अणुओं से, बँधे हुए सब रहते हैं ॥
उनके बंधन के कारण हैं, पांचों आश्रव शत्रु महान।
योग, प्रमाद, अव्रत, मिथ्यात्व, कपाय, ये हैं अति ही दुखखान ॥५५॥

आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। एक एक प्रदेश से अनंतानंत कर्म-वर्गणाएं लगी हुई हैं। उन-कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करने और आत्म प्रदेशों के साथ उनका बंध करने में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय और योग इन पांचों आश्रवों के सिवाय कोई दूसरा कारण नहीं है। अर्थात् भूत काल में जो कर्म-वर्गणाएं ग्रहण कीं, वर्तमान में जो ग्रहण करता है और भविष्य में जो ग्रहण करेगा वह सभी पांचों आश्रव के द्वारा ही ग्रहण करेगा। कर्म बंध कार्य है और पांचों आश्रव कारण हैं, कर्मबंध के जितने भी कारण हैं वह सभी इन पांचों आश्रवों में समा जाते हैं।

आश्रव के विशेष भेद

चतुर्थे च पूर्वे प्रकाराश्च पञ्चा-
ऽधिका विंशतिः सूर्यभेदो द्वितीयः ॥
तृतीयो दशार्द्धप्रकारः प्रतीतो ।
दश स्युर्विधाः पञ्चमे पञ्चयुक्ताः ॥ ५६ ॥

मिथ्यात्व के पच्चीस भेद हैं, इतने ही कषाय के भेद ।
अव्रत के बारह होते हैं, हैं प्रमाद के पांच विभेद ॥
पन्द्रह भेद योग आश्रव के, इस प्रकार से सब मिलकर ।
भेद बयासी हो जाते हैं, कहते ऐसा ज्ञानी नर ॥५६॥

मिथ्यात्व और कषाय इन दोनों आश्रवों के पच्चीस, पच्चीस भेद हैं, अव्रत आश्रव के बारह भेद हैं, प्रमाद आश्रव के ५ भेद हैं और योग आश्रव के १५ भेद हैं और इन पांचों आश्रवों के कुल भेद मिल कर ८२ भेद होते हैं ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है ।

उपसंहार

विबुध्याश्रवीयप्रकारान् विचित्रा-
न्विलोक्योग्रमेतद्विपाकं नितान्तम् ॥
निरुध्याश्रवं सर्वथा हेयमेनं ।
भज त्वं सदा मोक्षदं जैनधर्मम् ॥ ५७ ॥

आश्रव के भेदों को लखकर, देख भयंकर इनका फल ।
इन्हें छोड़ने का हे भाई !, करलें मन में प्रण निश्चल ॥
कर तू इनका ही निरोध अब, आत्म रूप ले शीघ्र निहार ।
भजले उत्तम जैन धर्म को, जो है शिव सुख का दातार ॥५७॥

ऊपर कहे हुए आश्रव के सभी भेदों को जान कर और आश्रव के भयंकर परिणामों को देख कर तू अपने मन में यह दृढ़ निश्चय करले कि आश्रव और उसके भेद सर्वथा छोड़ने लायक हैं। आश्रव रूप कर्म के द्वारों को रोक कर तू उन श्री वीतराग देव की सेवा कर जिन्होंने कर्मों को नष्ट कर दिया है। जिससे अनादि काल से लगे हुए, आधि, व्याधि और उपाधि तथा जन्म, जरा, और मरण रूप तीनों पापों का वंध दूर हो।

संवर-भावना

सम्यक्त्व

(वंशस्थ)

विनैकर्क शून्यगणा वृथा यथा ।
विनाऽर्कतेजो नयने वृथा यथा ॥
विना सुवृष्टिं च कृषिर्वृथा यथा ।
विना सुदृष्टिं विपुलं तपस्तथा ॥ ५८ ॥

अङ्क रहित सब शून्य व्यर्थ ज्यों, नेत्र हीन को व्यर्थ प्रकाश ।
वर्षा बिना भूमि में बोया, बीज व्यर्थ पाता है नाश ॥
उसी भांति सम्यक्त्व विना है, जप तप, कष्ट, क्रिया बेकार ।
कभी न उत्तम फल देती है, मिलता कभी न सुख भंडार ॥५८॥

अङ्कों के बिना चाहे जितने भी शून्य रख दिए जाँय सब व्यर्थ हैं । बिजली और सूर्य की तेज प्रभा चारों ओर बिखर रही हो किन्तु यदि नेत्र न हों तो वह बिलकुल बेकार है । चाहे जितनी उत्तम जमीन क्यों न हो और उसमें कितना बढ़िया बीज ही क्यों न बोया हो-परन्तु वर्षा के बिना सब फ़िजूल है । उसी तरह अगर समकित दृष्टि नहीं है तो, जप, तप, कष्ट; क्रिया आदि सब बेकार हैं, सम्यग् दृष्टि बिना इच्छित फल नहीं मिल सकता ।

—

सम्यक्त्व और संयम का सहकारीपन

न तद्धनं येन न जायते सुखं ।
न तत्सुखं येन न तोष-सम्भवः ॥
न तोषणं तन्न यतो व्रतादरो ।
व्रतं न सम्यक्त्वयुतं भवेन्न चेत् ॥ ५९ ॥

जिससे सुख मिलता न तनिक भी, वह धन, धन न कहाता है ।
वह सुख कभी नहीं कहलाता, जो संतोष न लाता है ॥
वह संतोष नहीं है जिसमें, नहीं आत्मसंयम होता ।
वह न आत्मसंयम होता जो, सम्यग्दृष्टि नहीं पाता ॥५९॥

वह धन, धन नहीं कहलाता जिससे लेश मात्र भी सुख नहीं मिलता । वह सुख नहीं जिसके अंदर समता या संतोष न भरा हो । वह संतोष नहीं कहलाता जिसके साथ आत्म-संयम न हो और उसका नाम आत्म-संयम नहीं कि जो सम्यक् दृष्टि सहित नहीं, अर्थात् धन वही है जो सुख दे, सुख वही है जिसमें संतोष हो, संतोष वही है जिसमें चित्त शान्त हो, संयम हो और संयम वही है जिसके मूल में सम्यक्त्व दृष्टि हो ।

व्रत

विनौषधं शाम्यति नो गदो यथा ।
विनाशनं शाम्यति नो क्षुधा यथा ॥
विनाम्बुपानेन तृषा व्यथा यथा ।
विना व्रतं कर्मरुगास्रवस्तथा ॥ ६० ॥

महा भयंकर व्याधि कभी भी, औषध विना नहीं मिटती ।
क्षुधा वेदना नहीं कभी भी, भोजन विना अहो हटती ॥
जल के विना नहीं बुझती है, जैसे तन की प्यास कहीं ।
कर्मों का आना रुकता त्यों, विना विरति के कभी नहीं ॥६०॥

जिस तरह औषध विना रोग नहीं मिटता, भोजन के विना भूख की वेदना नहीं मिटती और पानी पिए विना प्यास नहीं बुझती । उसी तरह विरति विना कर्म रोग का आना भी बंद नहीं होता अर्थात् रोग मिटाने के लिए औषधि, भूख मिटाने के लिए भोजन और प्यास बुझाने के लिए जल की जितनी आवश्यकता है उतनी ही ज़रूरत कर्म दूर करने के लिये विरति की है ।

व्रत के प्रकार

महाव्रताऽणुव्रतभेदतो द्विधा ।
व्रतं मुनेः पञ्चविधं किलाग्रिमम् ॥
परं मतं श्रावकसंहतेस्तथा ।
जिनोदितं द्वादशधाऽघवारभित् ॥ ६१ ॥

अणुव्रत और महाव्रत ये हैं, दो प्रकार व्रत भेद अनूप ।
एक देश से त्यागपाप का, कहलाता है अणुव्रत रूप ॥
और सर्वथा त्याग पाप का, पूर्ण महाव्रत कहलाता ।
साधु महाव्रत पालन करते, श्रावक अणुव्रत मन लाता ॥६१॥

महाव्रत और अणुव्रत के भेद से व्रत दो प्रकार का है, हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना रूप से सर्वथा त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है, जिसको साधु ही धारण करते हैं। जो एक देश रूप से पापों का त्याग होता है वह अणुव्रत कहलाता है, जिसका पालन श्रावक करते हैं। श्रावकों के व्रत बारह प्रकार के हैं। इस प्रकार सर्वथा निवृत्ति रूप महाव्रत और अणु-रूप निवृत्ति अणुव्रत हैं ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अप्रमाद

रुजा शरीरं जरया च तद्बलं ।
यशश्च लोभेन यथा विनश्यति ॥
तथा प्रमादैरखिलो गुणव्रज-
स्ततः सुखाय श्रयताच्च पौरुषम् ॥ ६२ ॥

आने से ज्यों दुखद बुढ़ापा, तन है दुर्बल हो जाता ।
रोगों से बल घट जाता है, सुयश लोभ से खो जाता ॥
उसी प्रकार प्रमाद योग से, हो जाते गुण नष्ट सभी ।
निज पुरुपार्थ जगा हे भाई, आने दे न प्रमाद कभी ॥६२॥

जिस तरह बुढ़ापे में शरीर दुर्बल होजाता है, रोग से शरीर कमजोर पड़ जाता है और लोभ से यश का नाश होजाता है। उसी तरह मद, विषय आदि प्रमाद के योग से मानसिक और आत्मिक सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। इसलिए हे सखे! यदि तू गुणसंपत्ति और सुखसंपत्ति इन दोनों की इच्छा रखता है तो प्रमाद को एक क्षण भर भी न ठहरने दे और अपने शुभ पुरुपार्थ को जगा।

अप्रमादका फल

ज्वरे निवृत्ते रुचिरेधते यथा ।
मले गते शाम्यति जाठरी व्यथा ॥
तथा प्रमादे विगतेऽभिवर्धते ।
गुणोच्चयो दुर्बलता च नश्यति ॥ ६३ ॥

ज्वर हट जाने से भोजन की, रुचि अति ही बढ़ जाती है।
मैल उदर का हट जाने से, शांति जठर में आती है॥
उसीतरह से जब प्रमाद यह, अंतर से हट जाता है।
आत्मिक गुणपैदा होते सब, दोष मूल कट जाता है ॥६३॥

जिस तरह ज्वर उतर जाने के बाद भोजन की तीव्र रुचि पैदा होती है और पेट का जमा हुआ मैल निकल जाने पर जठर की पीड़ा शान्त हो जाती है। उसी तरह जिस समय प्रमाद दूर हो जाता है उसी समय मानसिक और आत्मिक गुण उत्पन्न होने लगते हैं और गुणों के पैदा होते ही सारे दोष नष्ट हो जाने से आत्मा और मन की दुर्बलता दूर हो जाती है।

अकषाय

कषायदोषा नरकायुरर्जका ।
भवद्वयोद्वेगकराः सुखच्छिदः ॥
कदा त्यजेयुर्मम सङ्गमात्मनो ।
विभावयेत्यष्टमभावनाश्रितः ॥ ६४ ॥

होता तीव्र कषाय कभी जब, अशुभ बंध अति होता है ।
नर्क और तिर्यंच योनि को, जीव उसी से पाता है ॥
दोनों भव में दुख देता वह, सुख कर देता नष्ट सभी ।
कर दो नष्ट कषायों को तुम, पाओगे सुख साज तभी ॥६४॥

क्रोध, मान मया और लोभ ये चारों कषाय आत्मा के दोष हैं इनकी जितनी २ तीव्रता होती है उतने ही तीव्र फल देने वाले अशुभ कर्मों का बंध होता है । जब अनंतानुबंधी कषाय होती है तब नरकायु का बंध होता है और जब अप्रत्याख्यानी कषाय होती है तब तिर्यञ्च गति का बंध होता है । यह कषाय केवल पर भव में ही दुख नहीं देती किन्तु इस भव में ही मन को हमेशा दुखी रखती है सुख के साधनों के होते हुए भी यह कषाय, मनुष्य को सुख से विमुख रखती है इसलिए हर एक भव्य जीव को हमेशा ऐसी भावना करनी चाहिए कि-'इस कषाय चांडाली से मैं कब छुटकारा पाऊं' । जिस समय कषायों का संग छूट जायगा उसी समय सच्चे सुख की प्राप्ति होगी ।

अशुभयोग का त्याग

मनो-वचो-विग्रह-वृत्तयोऽशुभा ।
नाना विकाराः पुनरैन्द्रियाः सदा ॥
निहन्ति धर्माऽभिमुखं वलं ततो-
निरुध्य तांस्त्वं शुभधर्ममाचर ॥ ६५ ॥

अशुभ विचारों से मन रोको, अशुभ काम से रोको तन।
अशुभ कथन से वचन रोकलो, त्यागो विषयों का सेवन ॥
सभी अशुभ भावना हटाकर, आत्मिक वल का करो प्रकाश।
धर्म ध्यान का आश्रय लेकर, करो कर्म के दल का नाश ॥६५॥

मन से किसी का अशुभ विचारना, खोटी इच्छाएं करना, किसी के ऊपर ईर्षा, अथवा वैर रखना यह मानसिक अशुभ योग है। किसी की निंदा करना, गाली देना, असत्य भाषण करना यह वाचिक अशुभ योग है। किसी को दुख देना, किसी का हक छीनना, चोरी करना व्यभिचार करना, यह कायिक अशुभ योग है। विषयों के सेवन में इन्द्रियों का उपयोग करना यह ऐन्द्रिय विकार है। यह सभी अशुभ प्रवृत्तिएं धार्मिक और आत्मिक बल का नाश करती हैं। इसलिए हे बंधु! तू अशुभ प्रवृत्तियों को रोक कर आत्मशक्ति प्रकाशित कर और शुभ ध्यान का आश्रय ले। जिससे संवर की प्राप्ति हो और तुझे मुक्ति-सुन्दरी के स्वयंवर में प्रवेश करने का अधिकार मिल सके।

॥ इति संवर-भावना ॥

(९) निर्जरा-भावना

निर्जरा का विचार

(इन्द्रवंशा)

केन प्रकारेण पुरात्मदर्शिनः ।
कृत्वा ऽखिलां कर्मगणस्य निर्जराम् ॥
ज्ञानं निराबाधमलं प्रपेदिरे ।
त्वं चिन्तयैतच्छुभभावनावशः ॥ ६६ ॥

पूर्व जनों ने किस प्रकार से, पाया केवल ज्ञान प्रकाश ।
कर्म निर्जरा किस प्रकार की, किया सभी कर्मों का नाश ॥
उन सबका अपने मन में तू, हे भाई ! कर सदा विचार ।
आत्म शक्ति हो जागृत जिससे, मिले शांति सुख का भंडार ॥६६॥

पिछले समय में जो जो आत्मदर्शी पुरुष हुए हैं उन्होंने बाधा रहित पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है, पर जिस समय तक ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का आवरण होता है उस समय तक ज्ञान प्राप्त नहीं होता । इसलिए उन महात्माओं ने कर्म के आवरण को हटाने के लिए और उनकी पूर्ण निर्जरा करने के लिए क्या २ उपाय किए हैं, किस २ मार्ग पर चले हैं और किस पुरुषार्थ से कर्मों की पूर्ण निर्जरा कर निराबाध ज्ञान प्राप्त किया है । हे भद्र ! इस बात का विचार तू निर्जरा भावना द्वारा कर ।

निर्जरा का लक्षण और भेद

देशेन यः सञ्चितकर्मणां क्षयः ।
सा निर्ज्जरा प्राज्ञजनैर्निवेदिता ॥
स्यात्सर्वथेयं यदि सर्वकर्मणां ।
मुक्तिस्तदा तस्य जनस्य सम्भवेत् ॥ ६७ ॥

कुछ संचित कर्मों के क्षय से, देश निर्जरा कहलाती ।
कर्मों के संपूर्ण नाश से, पूर्ण निर्जरा हो जाती ॥
एक देश निर्जरा सदा, जीवों के होती रहती है ।
मोक्ष गमन के समय जीव के, पूर्ण निर्जरा होती है ॥६७॥

कर्म के समूह रूप कार्मण शरीर से, उदय में आए हुए अथवा उदय में आने वाले कर्मों का खिर जाना, झड़जाना निर्जरा कहलाती है। वह निर्जरा दो प्रकार की है (१) देश निर्जरा (२) पूर्ण निर्जरा— ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का कुछ २ अंश ही खिरना एकदेश निर्जरा है और उन कर्मों का जड़ मूल से बिलकुल नष्ट हो जाना पूर्ण निर्जरा है। इसमें से एकदेश निर्जरा तो हर समय होती रहती है और पूर्ण निर्जरा मोक्ष गमन के पूर्व समय होती है।

प्रशस्त और अप्रशस्त निर्जरा

भुक्ते विपाकेऽर्जितकर्मणां स्वतो ।
यद्भ्रंशनं स्यात्तदकामनिर्ज्जरा ॥
यन्मोचनं स्यात्तपसैव कर्मणा-
मुक्ता सकामा शुभलक्षणा च सा ॥ ६८ ॥

पर वश से अज्ञान रूप से, कष्ट सहन से अहो कभी ।
अपने आप कर्म जो झड़ते, वह अकाम निर्जरा सभी ॥
ज्ञान, ध्यान, तप संयम से जो, कर्म किए जाते हैं नाश ।
वह सकाम निर्जरा कहाती, है शुभ आतम रूप प्रकाश ॥६८॥

निर्जरा दो प्रकार की है, एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा । अकाम निर्जरा अप्रशस्त और सकाम निर्जरा प्रशस्त मानी जाती है । उदय में आए हुए अथवा उदय में आनेवाले संचित कर्मों का परवशपने अज्ञान रूप से कष्ट भोगने से जो निर्जरा होती है वहअकाम निर्जरा कहलाती है और ज्ञान, ध्यान, तप, संयम तथा परिषह आदि सहन करके जो कर्मों की असमय में ही निर्जरा की जाती है वह सकाम निर्जरा कहलाती है ।

अकाम निर्जरा

इच्छां विना यत्किल शीलपालन-
मज्ञानकष्टं नरके च ताडनम् ॥
तिर्यक्षु तृट्क्षुद्वध-बन्ध-वेदन-
मेतैरकामा भवतीह निर्ज्जरा ॥ ६९ ॥

इच्छा विना लोक-लज्जा से, शील आदि पालन करना।
सम्यक्त्व रहित कठिन तप करना, नरकों के दुख का सहना॥
सहना दुख तिर्यंच योनि के, कर्म नष्ट इससे होता।
वह अकाम निर्जरा कहाती, मोक्ष नहीं इससे मिलता ॥६९

इच्छा विना केवल लोक-लाज से अथवा लोगों के दबाव से ब्रह्मचर्य पालना या ज्ञान और सम्यक्त्व विना मिथ्यात्व भावों से उपवास आदि तप करना। अथवा नर्क की गति में क्षेत्रजनित पीड़ा, ताड़न, छेदन भेदनादि की पीड़ा तथा तिर्यंचयोनि में भूख, प्यास, वध, बंधन आदि का सहन करना, इन सब कष्टों के सहन करने की इच्छा न होने पर भी परवश पने से सहन करना, सो इन पीड़ाओं द्वारा जो कर्म भोगे जाते हैं और इससे जो निर्जरा होती है उस का नाम अकाम निर्जरा है।

तप के भेद

वाह्यादिभेदेन तपोस्त्यनेकधा ।
निष्काममेवात्र शुभं सदाशयम् ॥
कीर्त्यादिलोभेन तु यद्विधीयते ।
प्रोक्तं सकामं किल मध्यमं तपः ॥ ७० ॥

बाह्य,और अभ्यंतर विधि से, द्वादश विधि तप होता है।
शुद्ध भाव से किया हुआ तप, सर्व श्रेष्ठ कहलाता है॥
मान, प्रतिष्ठा, धन इच्छा से, जो तप जाता किया सभी।
वह नीची श्रेणी का तप है, देता शिव सुख नहीं कभी ॥७०॥

सकाम निर्जरा के कारण जो तप हैं वह बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार हैं। इन दोनों के ६-६ भेद हैं। (१) अनशन (२) उणोदरी (३) वृत्तिसंक्षेप (४) रस-परित्याग (५) काय-क्लेश (६) परिसंलेखना ये छह भेद वाह्य तप के हैं। (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) ध्यान (६) कायोत्सर्ग ये छह भेद अभ्यंतर तप के हैं।

इन वारह तपों में से कोई भी तप जो शुद्ध आशय को लेकर सांसारिक इच्छा को रक्खे विना केवल कर्म निर्जरा के लिए किया जाता है वह निष्काम तप सर्वश्रेष्ठ कहलाता है; किन्तु जो तप, यश, प्रतिष्ठा, सन्मान। द्रव्य अथवा स्वर्गीय सुख की लालसा से किया जाता है वह सकाम तप नीची श्रेणी का है।

——※——

प्रशस्त दान और भावना

रजोभिसंस्पृष्टपटोऽभितो भृशं ।
शुद्धयर्थमातन्य विधूयते यथा ॥
कर्मावरुद्धात्मविशुद्धये समु-
द्द्यातस्तथाऽनेकविधो विधीयते ॥ ७१ ॥

स्वार्थ रहित भय भीत जनों को, अभय दान दे तू सुख खान ।
उत्तम पात्रों को सदैव ही, उचित वस्तु का कर तू दान ॥
शुद्ध भावना गिरि पर चढ़कर, आत्म रूप तू अपना लख ।
इससे होगी कर्म निर्जरा, पायेगा तू अक्षय सुख ॥७१॥

हे भद्र ! यदि तू कटुविपाकी (कडुवे फल देने वाले) तीव्र कर्मों की निर्जरा करने की इच्छा रखता है, तो निःस्वार्थ बुद्धि से, जगत् के भयभीत प्राणियों को अभय दान दे । उत्तम भावों से सुपात्रको उचित वस्तु का दान कर और अन्तःकरण की शुद्धि करता हुआ भावना रूपी पर्वत पर चढ़कर उसके उच्च शिखर का आश्रय ले । इसी से तू कर्मों की निर्जरा कर सकेगा ।

ज्ञानपूर्वक तप

अज्ञान-कष्टाश्रिततापसादयो ।
यत्कर्म निघ्नन्ति हि वर्षकोटिभिः ॥
ज्ञानी क्षणेनैव निहन्ति तद् द्रुतं ।
ज्ञानं ततो निर्ज्जरणार्थमर्ज्जय ॥ ७२ ॥

बाल तपस्वी सहते हैं जो, कष्ट करोड़ों वर्ष महान।
जितने कर्म नष्ट करते हैं, उस तप से वह नर अज्ञान ॥
ज्ञानी जन उतने कर्मों का, क्षण में कर देते हैं नाश।
ज्ञान-निर्जरा का कारण है, मिलता इससे मुक्ति प्रकाश ॥७२॥

अज्ञान रूप से कष्ट सहने वाले बाल तपस्वी करोड़ों वर्षों तक उपवास आदि तप करें, सूर्य का आताप सहें और कुश के अग्र भाग पर जितना अंश रह सके उतने भोजन का पारणा करके ऊपर से मासोपवास करें। ऐसी करोड़ों वर्षों की तपस्या से वह जितने कर्मों को खपाते हैं उतने कर्म ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल से एक क्षण मात्र में ही खपा-सकते हैं। शास्त्रों में ऐसा कथन स्पष्ट रीति से किया गया है। इसलिए हे भद्र! कर्मों को धोकर साफ़ करने वाला जो ज्ञान रूपी उत्तम जल है उसकी तू खोज कर और उसका संचय कर जिससे कर्मों की पूर्ण निर्जरा होने से तुझे मोक्ष पद की प्राप्ति हो।

ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता

रेऽनन्त-जन्मार्जित-कर्मवर्गणा- ।
स्त्वं चेन्निराकर्तुमपेक्षसेतमाम् ॥
ज्ञानेन सार्धञ्च तपस्तदा चर ।
वह्निर्विनाऽपो नहि वस्त्रशुद्धिकृत् ॥ ७३ ॥

तुझे अनंत जन्म के संचित, कर्मों का करना यदि नाश ।
तो तू ज्ञान, क्रिया दोनों का, मन में भरले पूर्ण प्रकाश ॥
अग्नि और जल जिस प्रकार से, वस्त्र शुद्धि कर देते हैं ।
उसी तरह से ज्ञान और तप, कर्मों का क्षय करते हैं ॥७३॥

अनंत भवों से संचित हुए कर्मों की वर्गणाएं दूर करने की यदि तेरी तीव्र इच्छा है तो ज्ञान के साथ २ तप-क्रिया का आचरण कर । जिस प्रकार ज्ञान रहित तप किसी काम का नहीं है, उसी तरह तप रहित ज्ञान भी सर्वथा कार्य का साधक नहीं हो सकता । धोबी कपड़ों को धोता है तो उसे पानी और आग दोनों की जरूरत पड़ती है। केवल अग्नि तो मात्र कपड़ों को जला देगी और केवल पानी सूक्ष्म मैल को गला नहीं सकता, इसलिए पानी में वस्त्र को डाल कर नीचे आग जला कर जिस तरह कपड़ा साफ किया जाता है, उसी तरह ज्ञान रूपी पानी और तप रूपी अग्नि इन दोनों की जरूरत आत्म रूपी वस्त्र को साफ करने के लिए है । कहा भी है "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" ॥

॥ इति निर्जरा-भावना ॥

(१०) लोक भावना

लोक स्वरूप

(*शालिनी*)

धर्माधर्मौ पुद्गलः खात्मकाला-
एतद्द्रव्याभिन्नरूपो हि लोकः ॥
तत्राकाशं सर्वतः स्थाप्यनन्त-
मेतन्मध्ये विद्यते लोक एषः ॥ ७४ ॥

धर्म, अधर्म, जीव पुद्गल, आकाश, काल, छह द्रव्य सकल ।
जिसमें भरे हुए हैं, वह ही कहलाता है लोक अचल ॥
जहां एक आकाश मात्र है, वह अलोक कहलाता है ।
सभी जगह आकाश द्रव्य है, उसमें सब आ जाता है ॥७४॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल इन छह द्रव्यों से जो भरा है वह 'लोक' कहलाता है । लोक का कोई सा भी भाग ऐसा नहीं है जहां पर छह द्रव्यों में से कोई द्रव्य न हो । लोक संज्ञा उसी की है जिसमें छह द्रव्य भरे हुए हों । छहों द्रव्यों में से एक आकाशास्तिकाय सर्वत्र व्यापक (मौजूद) है और पांचों द्रव्य उसके व्याप्य हैं उसके आश्रित हैं । इसलिए आकाश पांचों द्रव्यों के साथ भी है और उन पाँचों से बाहर भी है । वह अनन्त है । उसका कोई अन्त नहीं पा सकता । उस आकाशास्तिकाय के साथ २ अन्य द्रव्यों के समूहों से भरा हुआ लोक है ।

अनादि अनन्त लोक

नायं लोको निर्मितः केनचिन्नो ।
कोऽप्यस्यास्ति त्रायको नाशको वा ॥
नित्योऽनादिः सम्भृतोऽजीवजीवै-
र्वृद्धि-ह्रासौ पर्ययानाश्रयेते ॥ ७५ ॥

इस जग में न लोक का कोई, कभी बनाने वाला है ।
और न कोई इसका पालक, नाश न करने वाला है ॥
नित्य अनादि लोक है इसमें, जीव अजीवों की जो नित्य ।
हानि वृद्धि होती रहती है, वह पर्याय रूप है सत्य ॥७५॥

इस लोक का कोई बनाने वाला है ? इस प्रश्न का उत्तर केवल 'नहीं' है। जब यही कहा जा सकता है अर्थात् यह लोक किसी का बनाया नहीं है। तब इस लोक का पालक अथवा नाशक (संहारकर्ता) भी कोई नहीं है। यह लोक अनादि काल से स्वयं सिद्ध है और रहेगा, किसी समय भी उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता । यह लोक नित्य और शाश्वत है । जड़ और चैतन्य (जीव और अजीव) से भरा हुआ है । यहाँ कोई शंका करता है कि जब लोक नित्य और शाश्वत है तब तो, चय, विचय, हानि, वृद्धि और घटती बढ़ती भी लोक में नहीं होनी चाहिए, इसका उत्तर यही है कि छह द्रव्यों की द्रव्य रूपी घटती अथवा हानि वृद्धि तो होती नहीं हैं, जो हानि वृद्धि देखने में आती है वह पर्यायों के आश्रित है । और पर्यायें अनित्य हैं, इसलिए उसमें हानि वृद्धि की कोई बाधा नहीं ।

लोक-कामना

उच्चैर्नीचैर्वेद-दिग्-रज्जुमान-
स्तन्मध्यांशे मेरुमूलं ततोऽयम् ॥
भक्तो लोको मध्यमुख्यैस्त्रिभागै ।
र्मध्ये तिर्यङ्ङूर्ध्व ऊर्ध्वेऽस्त्यधोऽधः ॥ ७६ ॥

नीचे से लेकर ऊपर तक, है चौदह राजू यह लोक ।
लोक मध्य में मेरु नाम का, है पर्वत अति सुख का थोक ॥
मध्य लोक सम तोल मेरु से, ऊर्ध्व लोक ऊपर का भाग ।
अधो लोक है तल सुमेरु का, होते हैं यों तीन विभाग ॥७६॥

इस लोक को नीचे के छोर से लेकर ऊपर के छोर तक किसी कल्पित डोरे से नापा जाय तो वह १४ राजू लंबा होगा, अर्थात् नीचे से ऊपर तक यह लोक १४ राजू प्रमाण है। लोक के बीच में एक मेरु नाम का पर्वत है। उससे लोक के तीन भाग हुए हैं। मेरु का समतोल भाग तो मध्य लोक; ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक और मेरु से नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है।

लोक की बसती

तिर्यग् लोके सन्ति तिर्यङ्मनुष्याः ।
प्रायो देवा ऊर्ध्वलोके वसन्ति ॥
नीचैर्लोके नारकाद्याः प्रभूताः ।
सर्वस्याग्रे मुक्तजीवाः सुखाढ्याः ॥ ७७ ॥

मध्यलोक में मनुज और, तिर्यंच जीव ही रहते हैं ।
शुभ वैमानिक देव,इन्द्रगण, ऊर्ध्वलोक में वसते हैं ॥
अधो लोक में जीव नारकी, और असुरगण करते वास ।
लोक शिखर पर सिद्ध जीव, करते अक्षय सुखमग्न निवास ॥७७॥

मध्यलोक में मनुष्य और तिर्यंच मुख्य रूप से रहते हैं (वाणव्यंतर, भवनवासी और ज्योतिषी देवता भी मध्य लोक की हद में वसते हैं; परन्तु उनकी गौणता है) ऊर्ध्वलोक के बड़े भाग में वैमानिक देवता रहते हैं और अधोलोक में नारकी तथा भवनपति वगैरह असुर रहते हैं। लोक के शिखर पर अक्षय आत्म सुख में मग्न रहने वाले सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं ।

लोक की आकृति और विभाग

आयामोऽधो रज्जवः सप्त मूले ।
मध्ये चैका ब्रह्मलोके च पञ्च ॥
प्रान्ते त्वेका सप्तरज्जुर्घनोऽस्य ।
न्यस्तश्रेणीहस्त-मर्त्याकृतिश्च ॥ ७८ ॥

अधोलोक लंवा चौड़ा है, राजू सात प्रमाण अहा ! ।
मध्य लोक लंवा चौड़ा है, राजू एक प्रमाण कहा ॥
ऊँचा राजू सात ऊर्ध्व है, ब्रह्म लोक लों पांच विलोक ।
फैला पैर, कमर पर कर रख, खड़े पुरुष सम है यह लोक ॥७८॥

अधोलोक का विस्तार ७ राजू का है अर्थात् अधोलोक की ऊँचाई सात राजू की है और अधोलोक का सातवें नर्क का प्रदेश सात राजू का चौड़ा है, मध्य लोक एक राजू का लंवा और चौड़ा है और उसकी ऊँचाई १८०० योजन की है । ऊर्ध्व लोक की ऊँचाई मोटाई सात राजू की, लंवाई चौड़ाई पांचवें देवलोक के निकट ५ राजू की है और बाद में संकोच होकर सर्वार्थसिद्धि के पास एक राजू की लंवाई चौड़ाई है । लंवाई, चौड़ाई और ऊँचाई समान करने को लोक का घन करना पड़ता है । वह घन किया हुआ लोक सात राजू को लंबा, चौड़ा और ऊँचा होता है । जामा पहन कर, दोनों पैर फैला कर, कमर पर हाथ रख कर खड़े हुए पुरुष की तरह लोक का आकार है ।

लोक की स्थिति

प्रान्ते वायुस्त्रिप्रकारः समन्ता-
त्तस्मादग्रे सर्वतोऽलोक-देशः ॥
यत्राकाशं द्रव्यमेकं विहाय ।
नान्यत्किञ्चिद्विद्यतेऽनन्तकेऽस्मिन् ॥ ७६ ॥

जिस भूपर रहते सब प्राणी, वह है घनदधि के आधार।
घनदधि, घनवायु आधार है, घनवा तनवा के आधार ॥
नभ आधार वायु-तनवा है, लोक अखीर, अलोकाकाश।
है अनंत आकाश वहां पर, लोक अनंत सदा अविनाश ॥७९॥

जिसके ऊपर सर्व प्राणी रहते हैं, वह पृथ्वी घनोदधि वायु के आधार पर रही हुई है और घनोदधि-घनवा-घनवायु के आधार पर है और घनवा-तनवा-तनुवायु के आधार रहता है वह तनु वायु भी आकाश के आधार से रहता है। इस लोकाकाश के अन्त में अलोकाकाश की हद है। उस अलोक में एक आकाशास्तिकाय के सिवाय और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। अर्थात् केवल एक आकाश है। वह सीमा रहित अनंत है; इसलिए अलोक भी अनंत है।

लोक में सुख दुःख का स्थान

उच्चैरुच्चैर्वर्तते सौख्य-भूमि-
नीचैर्नीचैर्दुःखवृद्धिः प्रकामम् ॥
लोकस्याग्रेस्त्युत्कटं सौख्यजातं ।
नीचैः प्रान्ते दुःखमत्यन्तमुग्रम् ॥ ८० ॥

अधोलोक के ऊपर, ऊपर, दुख थोड़ा, सुख अधिक महान ।
नीचे नीचे दुःख अधिक है, सुख है अल्प यही लो जान ॥
सबसे ऊपर लोक शिखर पर, होता है सुख अति उत्कृष्ट ।
और लोक के सब से नीचे, दुःख रहता है महा निकृष्ट ॥८०॥

लोक के नीचे के हिस्से से ज्यों २ ऊपर जाओ त्यों २ दुःख की कमी और सुख की बढ़ती होती जाती है और ऊपर से जितना २ नीचे आओ उतने ही उतने दुख की बढ़ती और सुख की कमी होती है।
ऊपर ऊपर सुख की बढ़ती होने से लोक के अग्रभाग में लोकशिखर पर जहां सिद्ध जीव रहते हैं, वहां उत्कृष्ट सुख है। और लोक के नीचे हिस्से में सातवीं नर्क में अधिक से अधिक भयंकर दुख है।

॥ इति लोकभावना ॥

उपसंहार

उच्चैः स्थानं त्वात्मनश्चित्स्वभावा-
न्नीचैर्यानं कर्मलेपाद् गुरुत्वे ॥
तस्माद् धर्मं कर्ममुक्त्यै विधेया-
लोकाग्रे स्याद्येन ते स्थानमर्हम् ॥ ८१ ॥

है चैतन्य अगुरु लघु वाला, ऊर्ध्व गमन है सदा स्वभाव ।
तैजसादितन गुरु लघु हैं अति, नीचे जाने का है भाव ॥
कर्मलेप से नीचे गिरता, पाता है गति नीच निदान ।
कर्मनाश के लिए धर्म कर, जिससे पावे पद निर्वाण ॥८१॥

जीव की चैतन्य शक्ति अगुरु लघु स्वभाव वाली है इसलिए उसका स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और तैजसादि शरीर रूप पुद्गल गुरुलघु है । गुरुत्ववाली वस्तु का स्वभाव नीचे जाने का है; इसलिए पुद्गल के संग से जीव नीचे गमन करता है । जितना २ कर्म का लेप अधिक और पुद्गल का संग विशेष होता है यह जीव उतना ही उतना-नीचे के स्थान में जन्म लेता है । और ज्यों २ चेतन स्वभाव की निर्मलता होती है, त्यों २ जीव का ऊर्ध्वगमन होता है । जिस समय सर्वथा निर्लेप हो जाता है, उस समय केवल चेतन स्वभाव रहने से लोक के अग्र भाग में स्थित होता है । इसलिए हे भव्य ! जो तेरी इच्छा लोक-शिखर पर स्थिति करने की है तो कर्म के लेप को हटाने को और आत्मा के निर्मल चैतन्य भाव को प्रकट करने के लिए तू धर्म का सेवन कर और आत्मिक गुण को प्रकट कर ।

(११) बोधिदुर्लभ भावना

एकेन्द्रिय में भ्रमण

(रथोद्धता)

सूक्ष्म-बादर-निगोद-गोलके-
ऽनन्तकालमघयोगतः स्थितः ॥
सूक्ष्म-बादर-धरादिके ततोऽ-
सङ्ख्यकालमथ दुःखसंकुले ॥ ८२ ॥

पूर्व पाप फल से निगोद, गोले में पड़ा जीव दुखवंत।
सूक्ष्म और बादर शरीर धर, वहाँ विताया काल अनंत॥
निकल वहाँ से पंच स्थावर, गति में भटका काल अनंत।
भोगा कष्ट वहाँ जो इसने, कहते उसे न आता अंत॥८२॥

पूर्वकाल में पाप के योग से यह जीव निगोद के उस गोले में पैदा हुआ जहाँ चैतन्य शक्ति एक दम दब जाती है और एक स्पर्शन इन्द्रिय भी जहां अत्यंत हीन शक्ति वाली होती है। वहां अनन्त जीवों ने एक शरीर पाया। इतना ही नहीं किन्तु सूक्ष्म और बादर निगोद के अन्दर अनंत काल तक निवास किया और उसी निगोद में भ्रमण करता रहा-इस तरह निगोद में अनंत काल व्यतीत करने के बाद सूक्ष्म और बादर पृथ्वी, पानी, अग्नि वायु और प्रत्येक वनस्पति में रहा जहाँ असंख्य काल तक भ्रमण करता रहा। जहां केवल मात्र दुःख ही दुःख है।

विकलेन्द्रिय में भ्रमण

द्व्यक्षमुख्यविकलेन्द्रिये क्रमा-
त्सङ्ख्यकालमटितो व्यथान्वितः ॥
नारके पशुगणे पुनः पुन-
र्यापितोऽतिसमयः सुखोज्झितः ॥ ८३ ॥

एकेन्द्रिय में फिरते फिरते, कुछ शुभ कर्म उदय आया ।
तब दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय में, काल अनंत कष्ट पाया ॥
फिर चौइन्द्रिय में दुख पाया, पंचेन्द्रिय गति फिर पाई ।
वहाँ नरक तिर्यंच योनि में, कष्ट सहा अति हे भाई ! ॥८३॥

एकेन्द्रिय में भ्रमण करते, दुख भोगते हुए जब कुछ अशुभ कर्मों की कमी हुई, तब कुछ ऊंची पदवी पाई और एकेन्द्रिय से दो-इन्द्रिय हुआ। वहां भी संख्यात काल तक भ्रमण कर अनुक्रम से तीन-इन्द्रिय और चौ इन्द्रिय में पैदा हुआ। वहाँ भी दुःख भोगते हुए असंख्यात काल तक भ्रमण किया। इसके बाद पंचेन्द्रिय में प्रवेश किया, उसमें भी नारकी तिर्यंच अथवा जहाँ पर दुःख ही दुःख है, वहां पर बहुत काल व्यतीत किया और बार बार उन्हीं दुःखमय योनियों में ही भ्रमण किया।

पुण्य से मनुष्यभव की प्राप्ति

तत्र तत्र दुरितातिभोगतः ।
कर्मणामपनयो यदा ऽभवत् ॥
प्राप रत्नमिव दुर्लभं भृशं ।
मानवत्वमतिपुण्य-योगतः ॥ ८४ ॥

चारों गति में फिरते फिरते, हाय महा दुख पाया है।
पूर्व जन्म के शुभ कर्मों से, पुण्य उदय जब आया है॥
तब अति दुर्लभ, महाकठिन, इस मनुज योनि को है पाया।
मानो चिन्तामणि हाथों में, किसी भिखारी के आया ॥८४॥

ऊपर कहे अनुसार उन समस्त योनियों में भ्रमण करते और दुःख भोगते हुए जब कहीं अधिक अशुभ कर्म नाश हो गए और जब शुभ कर्मों का उदय हुआ, अथवा कुछ सुकृत का योग मिलने पर पुण्य का संचय हुआ, तब अति पुण्य के योग से चिन्ता मणि रत्न से अधिक कीमती ऐसे मनुष्य जन्म को बड़ी कठिनाई से पाया।

कुलीनता आदि की प्राप्ति

मानवेऽपि न हि पुण्यमन्तरा ।
प्राप्यते सुकुल-देश-वैभवम् ॥
रोगहीनमखिलाक्ष-संयुतं ।
कान्तगात्रमपि दीर्घजीवितम् ॥ ८५ ॥

मनुज योनि में भी दुर्लभ है, आर्य देश, उत्तम कुल योग।
बड़े पुण्य से मिलता है यह, मानव को अति शुभ संयोग ॥
उससे अधिक पुण्य से पाया, सुन्दर तन, विचार गंभीर।
इन्द्रिय शक्ति, स्वस्थ मन का बल, दीर्घ आयु, आरोग्य शरीर ॥८५॥

मनुष्य भव में भी विशेष पुण्य विना आर्य देश और उत्तम गुण संस्कार वाले कुल में जन्म नहीं मिलता। अर्थात् जब विशेष पुण्य हो तभी धर्म सामग्री वाले देश और कुल में जन्म होता है। उससे भी अधिक पुण्य होने पर सुन्दर शरीर इन्द्रियों की परिपूर्ण शक्ति, पूर्ण आरोग्यता, मन की स्वस्थता और दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

सद्गुरु का समागम

पूर्वपुण्यवशतोऽखिलं हि त-
ल्लभ्यते यदि सुकर्मपाकतः ॥
दुर्लभस्तदपि कल्पवृक्षवद्-
योग्य-संयमि-गुरोः समागमः ॥ ८६ ॥

पूर्व जन्म का पुण्य योग जब, हुआ प्रगट अति हे भाई ! ।
तब सुखदायक सभी वस्तुएं, किसी जीव ने यदि पाई ॥
तो अति धीर, संयमी गुरु का, महाकठिन जग में संयोग ।
कल्प वृक्ष सम समझो प्रियवर, सत्संगति का मिलना योग ॥८६॥

पूर्व जन्म के पुण्य योग से यदि सभी सामग्री मिल भी गई, तो भी अगर शुद्ध संयमधारी, त्यागी सद्गुरुओं का समागम न हुआ, तो वह सभी सामग्री किस काम की। और ऐसे सद्गुरु का समागम मिलना सुलभ नहीं है, तारने वाले सद्गुरु का मिलाप कल्पवृक्ष की तरह महादुर्लभ है पूर्ण पुण्य के योग बिना सद्गुरु का संयोग नहीं मिल सकता।

श्रवण और बोधि की दुर्लभता

दुर्लभादपि सुदुर्लभं मतं ।
वीरवाक्-श्रवणमात्म-शान्तिदम् ॥
हा ततोऽपि खलु बोधिवैभवो ।
यो न कर्मलघुतां विनाप्यते ॥ ८७ ॥

यदि सत्संग महा दुर्लभ भी, पाता अहो ! कभी प्राणी ।
तो उससे अति दुर्लभ मिलना, शांतिप्रदायक जिन वाणी ॥
उसको सुनकर बोधि ज्ञान का, पाना कठिन महा जग में ।
जिससे समकित दृष्टि प्राप्त हो, लगता जीव मोक्ष मग में ॥८७॥

सद्गुरु का समागम होना जितना दुर्लभ है। उससे भी अधिक दुर्लभ वीतराग की वाणी का सुनना है। जिसके सुनने से आत्मा में शांति की लहरें पैदा होती हैं। उसे सुनकर भी उसमें से बोधि ज्ञान की प्राप्ति कर समकित दृष्टि का पाना तो बहुत ही कठिन है। यह सभी संपत्ति पुण्य के बिना नहीं मिल सकती।

सबसे अधिक बोधिकी दुर्लभता

संसदग्र्यपदमाप्यते श्रमा-
द्राज्यसम्पदपि शत्रुनिग्रहात् ॥
इन्द्र-वैभव-बलं तपोव्रतैः
र्बोधिरत्नमखिलेषु दुर्लभम् ॥ ८८ ॥

महा राज्यसत्ता का पाना, पुण्य योग से कठिन नहीं।
पाना विजय शत्रुओं पर भी, नहीं जगत में कठिन कहीं ॥
तप बल से सुरपति का वैभव, कठिन नहीं है पा जाना!
पर अति दुर्लभ बोधिरत्नका, महा कठिन जग में पाना ॥८८॥

बड़ी कांग्रेस जैसी सभा का सभापति पद मिलना उतना कठिन नहीं है। पुण्य के योग से राज्य की सत्ता अथवा उच्च अधिकारी की पदवी भी आसानी से मिल सकती है। देवताओं की ऋद्धि अथवा इन्द्र का पद भी अनेक बार प्राप्त हुआ और हो सकता है। परन्तु इन सबसे कठिन बोधि रूप रत्न का मिलना महा मुश्किल है। जो कदाचित् एक बार भी बोधि रूपी रत्न मिल जाय तो संसार का परिभ्रमण मिट जाय।

उपसंहार

भ्राम्यता भववनेऽघवर्षणा-
त्काक-तालवदिदं सुसाधनम् ॥
प्राप्य मूर्ख ? किमु भोगलिप्सया ।
रत्नमेतदवपात्यतेऽम्बुधौ ॥ ८६ ॥

जग वन में फिरते दुख पाते, जब शुभ कर्म उदय आया ।
न्याय काकताली सम तूने, सब साधन जग में पाया ॥
फिर भी जग माया में फँस तू, विषयों से लपटाया रे ।
बोधिरत्न को भवदधि में हा !, फेंक रहा क्यों मूढ़ अरे ! ॥८९॥

संसार रूपी महावन में भ्रमण करते हुए तथा अनेक दुःख भोगते हुए जब कुछ पाप कर्म की कमी हुई है, तब काकतालीय न्यायवत् मनुष्य भव उत्तम कुल में जन्म, निरोग शरीर, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, दीर्घ आयु और सद्गुरु का समागम यह सभी सामग्री तुझे मिली हैं। इतना होने पर भी हे मूर्ख ! तू मोह माया में लिपटा रहकर-विषय भोग में आसक्ति रखकर बोधिरत्न प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता, तो हाथ में आए हुए चिंतामणि रत्न को तू समुद्र में फेंक रहा है । इसलिए हे भद्र ! इस उत्तम समय को व्यर्थ न खो और ऐसा पुरुषार्थ कर जिससे भव भ्रमण छूट जाय ।

॥ इति बोधि दुर्लभ भावना ॥

(११) धर्म-भावना

सत्य धर्म का स्वरूप

(गीति)

येन समग्रा सिद्धि-
दिंव्यर्द्धिश्चापि जायते शुद्धिः ॥
धर्मः स किंस्वरूपो ।
जानीहि त्वं तत्त्वधिया तच्च ॥ ६० ॥

सकल सिद्धि, अति दिव्य ऋद्धि, जो आत्मशुद्धि देता सुख रूप ।
उस महान उत्कृष्ट धर्म का, तू विचार ले सत्य स्वरूप ॥
पक्षपात से या हठ से तू, कभी विचार नहीं करना ।
तत्त्वदृष्टि से पक्ष रहित हो, सत्य धर्म मन में धरना ॥९०॥

जो सकल सिद्धि, दिव्य ऋद्धि और आत्म शुद्धि को देने वाला है, उस धर्म का क्या स्वरूप है?, इसका विचार तुझे करना चाहिए। हे भद्र! यह विचार किसी भी तरह का पक्षपात रखकर ऊपरी बुद्धि से करने का नहीं है; किन्तु निष्पक्षपात रूप से, तात्त्विक बुद्धि से तू धर्म का विचार कर ।

धर्म की परीक्षा

मम सत्यं मम सत्यं ।
वदन्ति सर्वे दुराग्रहाविष्टाः ॥
नैतद्वचसा मुह्ये-
त्किन्तु परीक्षा बुद्धिमता कार्या ॥ ९१ ॥

दुराग्रही मत के मतवाले, कहते 'मेरे सत्य वचन' ।
'मैं कहता हूं वही सत्य है, मेरा ही है सत्य कथन' ॥
उनके इन मिथ्या वचनों पर, कभी न मोहित हो जाना ।
यदि हो ठीक ग्रहण करना, निज बुद्धि कसौटी पर लाना ॥९१॥

मतवादी, बहुधा दुराग्रह और आवेश वाले होते हैं। जिससे वह तत्व की खोज न तो खुद कर सकते हैं और न दूसरों को बता ही सकते हैं। किन्तु जो मैं कहता हूँ वही सत्य है, मैं जो मानता हूँ वही सत्य है, दूसरे के पास सत्य नहीं है, इस प्रकार कहा करते हैं। परंतु ऐसे वचन दुराग्रह वाले होने से विश्वास करने लायक, अथवा ग्रहण करने लायक नहीं होते। इसलिए उनके ऊपर मोहित मत हो जाना, किन्तु अपनी विचार शक्ति और परीक्षा बुद्धि की कसौटी पर उन वचनों की जांच करना और अगर वह ग्रहण करने योग्य हों तो ग्रहण करना।

किसका कहा हुआ धर्म सच्चा है ?

यस्य न रागद्वेषौ ।
नाऽपि स्वार्थो ममत्वलेशो वा ॥
तेनोक्तो यो धर्मः ।
सत्यं पथ्यं हितं हि तं मन्ये ॥ ९२ ॥

जिस योगी ने राग द्वेष का, जड़से कर डाला है नाश।
जिसके कुछ भी स्वार्थ नहीं है, नहीं ममत्व भाव की पाश ॥
उस उपकारी परमार्थी का, कहा धर्म है सत्य महान ।
कर्म रोग का नाशक है वह, है हितकारी पथ्य समान ॥९२॥

जिन्होंने राग और द्वेष को बिलकुल ही नष्ट कर दिया हो, जिनको धन, यश, गौरव अथवा प्रतिष्ठा पाने की बिलकुल भी इच्छा न हो, जिनके मन में यह भाव न हो कि खोटा या खरा जो कुछ मेरा कहा हुआ या माना हुआ है, वही सत्य है, ऐसा दुराग्रह और ममत्व जिन को लेश मात्र भी नहीं हो, ऐसे परमार्थी पुरुष द्वारा केवल लोक के उपकार के लिए बतलाया हुआ जो धर्म है, वही धर्म सत्य है। और वही धर्म पथ्य की तरह हितकारी हो सकता है। इस तरह जो बुद्धि की कसौटी पर चढ़ सके ऐसा उन परमार्थी पुरुषों का आचरण किया और उसी प्रकार कहा हुआ धर्म ही श्रेष्ठ माना जा सकता है।

धर्म के भेद

श्रुत-चरणाभ्यां द्विविधः ।
सज्ज्ञान-दर्शन-चरित-भेदाद्वा ॥
धर्मस्त्रेधा गदितो ।
सोऽयं श्रेयःपथः समाख्यातः ॥ ९३ ॥

निज स्वभाव मय सत्य धर्म वह, दो प्रकार है महिमावान ।
पहला है श्रुत धर्म, दूसरा; है चारित्र धर्म सुखदान ॥
है श्रुत धर्म ज्ञान, दर्शनमय, क्रिया रूप चारित्र महान ।
दर्शन, ज्ञान, चरित रत्नत्रय, है यह महामुक्ति सोपान ॥९३॥

जो आत्मा को परभवों में न जाने देकर निज स्वभाव में कायम रक्खे वही धर्म है, ऐसा धर्म दो प्रकार का है (१) श्रुत धर्म (२) चारित्र धर्म । श्रुत धर्म भी दो प्रकार है (१) ज्ञान धर्म (२) दर्शन धर्म । ज्ञान दर्शन और चारित्र इनको रत्नत्रय कहते हैं और यह रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है । "सम्यग्दर्शज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात् । मोक्ष का जो मार्ग है वही धर्म का सच्चा रूप है ।

धर्म के विकास का क्रम

सप्तप्रकृत्युपशमाऽऽ-
दित उदयति गुणपदे चतुर्थेऽलम् ॥
धर्मः केवलमाद्योऽ-
ऽन्यलवोपि च पञ्चमे द्वयं षष्ठे ॥ ९४ ॥

सप्त प्रकृति के क्षय, उपशम से, पाता चौथा गुण स्थान ।
सम्यक् दृष्टि रूप होता है, वहां अहो ! श्रुत धर्म महान ॥
एक देश से पूर्ण रूप से, दो प्रकार चारित्र प्रधान ।
एक देश होता पंचम में, सर्व देश षष्ठम में मान ॥९४॥

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, समकित मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से चौथे गुणस्थान में प्रथम श्रुत धर्म का प्रारम्भ होता है। यह गुणस्थान जिसमें विरतिरूप चारित्र धर्म नहीं है, परन्तु दृष्टि शुद्ध होने से श्रुत धर्म की संपत्ति होता है। दूसरा धर्म चारित्र धर्म है वह दो प्रकार का है। एक देश चारित्र और दूसरा सर्वचारित्र। अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ के दूर करने से पांचवें गुणस्थान में देश चारित्र होता है और प्रत्याख्यानी चौकड़ी के दूर होने से छठे गुणस्थान में सर्वचारित्र। ५ वें में श्रुत और देश चरित्र और छठे में श्रुत और सर्वचरित्र का उदय होता है।

धर्म का फल

तत्फलमवाप्यते नो,
कामगवीतः सुरद्रुमेभ्यो वा ॥
सुरचिन्तामणितो वा ।
धर्मोऽपूर्वं हि यत्फलं दत्ते ॥ ९५ ॥

कामधेनु सेवन से भी जो, शुभ फल प्राप्त नहीं होता ।
कल्पवृक्ष चिंतामणि जिसको, नहीं कभी भी दे सकता ॥
और न कोई देव जगत में, दे सकता जो फल सुख दान ।
ऐसा अनुपम महा मोक्षफल, देता केवल धर्म महान ॥९५॥

धर्म के सेवन से जिस फल की सिद्धि होती है, वह फल कामधेनु गाय, कल्पवृक्ष, चिंतामणिरत्न अथवा देवताओं के सेवन से नहीं मिल सकता है । कामधेनु वगैरह से जो फल मिलेगा, वह फल केवल कुछ समय के लिए ही है । पूर्ण सिद्धि देने वाला नहीं; परन्तु धर्म का सेवन करने से मिला हुआ मोक्ष सुख रूपी फल चिरकाल तक स्थाई और पूर्ण सुख देने वाला है ।

धर्म-माहात्म्य

तद्वस्तु न त्रिलोके ।
जिनधर्मात्तु भवेन्न यत्साध्यम् ॥
तद्दुःखं नो किञ्चिद्-
यस्य विनाशो न जायते धर्मात् ॥ ९६ ॥

तीन लोक में ऐसी कोई, उत्तम वस्तु न सुख दातार।
श्री जिन कथित धर्म से जिसपर, कर लेता न जीव अधिकार।
और न ऐसा कोई दुख है, जो न धर्म से होता नाश।
जग में धर्म माहात्म्य अकथ है, देता केवल ज्ञान-प्रकाश ॥९६॥

स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक के अन्दर ऐसी कोई भी उत्तम से उत्तम वस्तु नहीं है, जिसकी सिद्धि (प्राप्ति) वीतराग के कहे हुए धर्म से न हो-सके। संसार में ऐसा बड़ा से बड़ा कोई कष्ट नहीं, जिसका विनाश धर्म से न हो सके। अर्थात् सम्पूर्ण दुःखों का नाश कर सम्पूर्ण सिद्धि देने वाला धर्म है, धर्म से उत्तम इस संसार में कोई पदार्थ अथवा कोई शक्ति नहीं है, धर्म का माहात्म्य अकथनीय है।

उपसंहार

दुर्गतिकूपे पतता-
मालम्बनमस्ति किं विना धर्मम् ? ॥
तस्मात्कुरु प्रयत्नं ।
समयेऽतीते प्रयासवैफल्यम् ॥ ९७ ॥

दुर्गति कूप पड़े प्राणी का, कर सकता न कोई रक्षण ।
सबका रक्षण करने वाला, एक मात्र है धर्म शरण ॥
है जब तक अनुकूल समय, तू धर्म प्राप्ति का कर शुभ यत्न ।
समय निकल जाने पर फिर तो, होंगे सारे विफल प्रयत्न ॥९७॥

हे भद्र ! दुर्गति रूपी कुए में पड़े हुए प्राणी को धर्म के सिवाय और किसी का कुछ भी सहारा नहीं है। धन, वैभव, राज्य, कुटुंब के लोग अथवा अन्य कोई वस्तु इस जीव को सद्गति में ले जाने वाली नहीं है। एक मात्र धर्म ही दुर्गति में से निकालकर सद्गति में लेजाकर मुक्ति में पहुंचाने वाला है। इसलिये हे भव्य ! जब तक समय अनुकूल है तब तक धर्म प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर। समय हाथ से जाने पर फिर पीछे परिश्रम करना बेकार होगा और पश्चात्ताप करने पर भी फिर समय नहीं मिलेगा; इसलिए विवेक धारण कर और विना विलम्ब के शुभ पुरुषार्थ में लगजा, जिससे फिर पछताना न पड़े।

॥ इति धर्म-भावना ॥
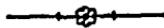
ग्रंथ का उपसंहार

(*शार्दूलविक्रीडित*)

एतद्द्वादशभावनाभिरसुमानेकान्ततो योऽसकृ-
त्स्वात्मानं परिभावयेत्त्रिकरणैः शुद्धैः सदा सादरम् ॥
शाम्यन्त्युग्रकषाय-दोषनिचया नश्यन्त्युपाध्यादयो-
दुःखं तस्य विलीयते स्फुरति च ज्ञानप्रदीपो ध्रुवम् ॥९८॥

जो प्राणी एकान्त जगह में, दृढ़ आसन से, कर मन वश ।
आदर सहित विचार करेगा, भव्य भावनाएं द्वादश ॥
दोष कषाय शमन सब होगा, हृदय शांति रस से हो पूर ।
ज्ञान-दीप की ज्योति जगेगी, आधि-व्याधि सब होगी दूर ॥९८॥

जो भव्य प्राणी एकान्त में दृढ़ आसन लगाकर मन वचन और काय को शुद्ध करके पूर्ण रुचि और प्रेम सहित आदर भाव रखकर इस ग्रंथ की बारह भावनाओं का हमेशा चिंतवन कर अपने आत्मतत्त्व का विचार करेगा। उसके मनसे कषाय का भयानक दोष निकल जायगा और मन शान्त हो जायगा, आधि-व्याधि नष्ट हो जायँगी, दुःख दूर होगा, ज्ञान रूपी स्थिर दीपक प्रकाशमान होगा, तथा अनुभव आनंद प्रगट होगा।

ग्रंथ-प्रशस्ति

ख्यातो भुव्यऽजरामरो मुनिवरो लोकाख्यगच्छे मणि-
स्तत्पट्टे मुनिदेवराजसुकृती श्रीमौनसिंहस्ततः ॥
तस्माद्देवजिनामको बुधवरो धर्माग्रणीशेखर-
स्तत्पट्टे नथुजिन्मुनिः श्रुतधरः सौजन्य-सौभाग्यभूः ॥९९॥

तच्छिष्यो हि गुलाबचन्द्रविबुधः श्रीवीरचन्द्राग्रज-
स्तत्पादाम्बुजसेवनैकरसिकः श्रीरत्नचन्द्रो मुनिः ॥
ग्रामे थानगढाऽभिधे युगरसाङ्केलाब्द (१९६२) दीपोत्सवे।
तेनेदं शतकं हिताय रचितं वृत्तैर्वरैः शोभितम् ॥१००॥ युग्मम्

लोंकागच्छ मध्य मणि जैसे, जग प्रसिद्ध मुनि गण नायक।
श्री अजरामर स्वामी हुए हैं, जग जीवों को सुखदायक ॥
शिष्य हुए श्री देवराज जी, शिष्य मौनसिंह उनके जान।
उनके शिष्य देवजी स्वामी, श्री नथूजी शिष्य सुजान ॥९९॥

उनके शिष्य गुलाब चन्द्र जी, वीरचन्द्र अग्रज गुणवान।
उनके पद पंकज के सेवक, रत्न चन्द्र मुनि जग सुख दान ॥
इक, नव, षट् द्वय शुभ संवत् में, ग्राम थानगढ़ में रहकर।
दीपावली को विविधछन्दमय, रचा ग्रन्थ यह अति सुखकर ॥१००॥

लोंकागच्छ में मणि के समान, लींबड़ी संप्रदाय के नायक मुनिगण में प्रधान और पृथ्वी में प्रसिद्धि पाए हुए पूज्य श्री अजरामरजी स्वामी हुए। उनके पद पर उनके शिष्य पंडित श्री देवराजजी स्वामी हुए। उनके पट्टपर मुनिगण से शोभित महात्मा श्री भौनसिंह स्वामी हुए। उनके पट्ट पर धर्म नेताओं में शिरोरणि विद्वानगणों में माननीय अत्यंत प्रतापी श्री देवजी स्वामी हुए। उनके पट्ट पर उनके शिष्य सौजन्य और सौभाग्य युक्त शास्त्रवेत्ता पूज्य श्री नत्थुजी स्वामी हुए, उनके शिष्य विबुधवर पंडित श्री गुलाबचंद्रजी स्वामी हुए। जिन्होंने अपने लघु भ्राता महाराज श्री वीरजी स्वामी के साथ दीक्षा धारण की थी, उनके चरण सेवक मुनि श्री रत्न-चन्द्रजी ने संवत् १९६२ में दीपावली के दिन श्री थानगढ ग्राम में नाना प्रकार के छन्दों से सुशोभित यह भावना-शतक नामक ग्रंथ रच कर पूर्ण किया।

अनुवादक की प्रशस्ति

श्रीमद् रत्नचन्द्र मुनिवर हैं, विद्वानों में रत्न महान।
उनका यह भावना-शतक है, देने वाला उज्ज्वल ज्ञान ॥
इससे शांतिसुधा की सरिता, हृद्-तल में लहराती है।
जग से विलग-"भक्तवत्सल की", भक्ति हृदय में आती है ॥१०१

* इति भावना-शतक समाप्त *

परिशिष्ट

मैत्री भावना

राग—आशावरी । ताल—त्रिताल

मैत्र्या भूमिरतीव रम्या,
भव्यजनैरेव गम्या ॥ मैत्र्या—ध्रुवपदम् ।
भ्रातृभगिनीसुतजायाभिः ।
स्वजनैः सम्बन्धिवर्गैः ॥
समानधर्मैर्ज्ञातिजनैश्च ।
क्रमशो मैत्री कार्या ॥ मैत्र्या—(१)
कालेऽतीते भवेत्प्रवृद्धः ।
यथा च मैत्रीप्रवाहः ॥
ग्रामजना ये जानपदा वा ।
मैत्र्या तेऽन्तर्भाव्याः ॥ मैत्र्या—(२)
गवादयस्तिर्यञ्चः सर्वे ।
विकलेन्द्रियास्त्रयोपि ॥
भूताः सत्त्वा ये जगति स्युः ।
सर्वे मैत्र्या ग्राह्याः ॥ मैत्र्या—(३)
यथा यथा स्यादात्मविशुद्धिः ।
तथा तथैतद्वृद्धिः ॥
पूर्णे विशुद्धौ मैत्री भावना ।

व्याप्ता स्यात्त्रिजगत्सु ॥ मैत्र्या—(४)
पितृसुतजायाबन्धुता ।
जाता न येन कदापि ॥
नास्ति तादृक् कोऽपि जनोऽत्र ।
कथमुचिता स्यादऽमैत्री ॥ मैत्र्या—(५)
निन्दन्त्यपकुर्वन्ति ये वा ।
घ्नन्ति द्वेषाद्यग्रीः ॥
मत्वा तेषां कर्मप्रदोषं ।
तैरपि मैत्री न छेद्या ॥ मैत्र्या—(६)
शत्रुभावोद्भावनक्लेश-
द्वेषासूयाप्रकटनम् ॥
एते सर्वे गुणाः पशूनां ।
कथमुत्तमजनसेव्याः ॥ मैत्र्या—(७)
समयनिभृतशमरससरसि त्वं ।
विहर यथेष्टं स्वान्त ! ॥
कुरु कुरु मैत्रीं सर्वैः साकम् ।
कमपि नामित्रं चिन्तय ॥ मैत्र्या—(८)

मैत्री भावना

भावार्थ—मनुष्य का हृदय यदि मैत्री भावना की भूमि बन जाय तो वह अत्यन्त रमणीय दिखाई देने लगे—वह न केवल दिखाव में ही रमणीय हो किन्तु अच्छी से अच्छी धान्य उत्पन्न करने वाली उर्वरा-भूमि की भाँति उत्तम फल देने वाली भी हो सकती है। ऐसी रमणीय भूमि प्राप्त करने का अधिकार केवल भव्य भाग्यशाली जनों को ही

मिलता है। चाहे जो उस भव्य प्रदेश में विचरने का अधिकार नहीं पा सकता।

मैत्री का क्रम

मैत्री के पहले पात्र एक ही उदर से जन्मे हुए भाई और बहन हैं। सहज सहवास होने और रक्त का सम्बन्ध होने से उन की मैत्री स्वाभाविक है। उसके अनन्तर मैत्री के पात्र पुत्र और पत्नी हैं। यद्यपि पुत्र प्रारम्भिक अवस्था में पालनीय है, अतएव वह मैत्री के योग्य नहीं गिना जा सकता, तो भी "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत्" इस नीति के पद्य में कहे अनुसार सोलह वर्ष की उम्र के बाद पुत्र को मित्र के समान गिनना चाहिए। पत्नी को भी अपनी गुलाम—पैर की जूती न मान कर जीवन-सहचारिणी—मित्र ही मानना चाहिये। इस के अनन्तर कुटुम्बी और सगे सम्बन्धियों के साथ मैत्री स्थापित करना चाहिए। इसी समय मैत्री की जड़ गहरी हो जाने पर स्वधर्मी और स्वजाति के भाई का नम्बर आता है। अर्थात् फिर इनके साथ मैत्री-भाव से हृदय की एकता स्थापित करना चाहिए। (१)

मैत्री के मार्ग में चलते-चलते जितना समय व्यतीत होगा, मैत्री का प्रवाह भी उतना ही बढ़ता चला जायगा। ज्यों-ज्यों प्रवाह बढ़े, त्यों-त्यों जाति-भाइयों के बाद अपने गाँव में बसने वाली अन्य जातियों और अन्य धर्मियों के साथ मैत्री दृढ़ करनी चाहिये। एक भी ग्राम-बन्धु या देश-बन्धु को मैत्री की सीमा से बाहर नहीं रखना चाहिए। (२)

मनुष्य-जाति के साथ मैत्री का सम्बन्ध जुड़ जाने के पश्चात् गाय, भैंस आदि तिर्यञ्चों, पशु और पक्षियों की बात आती है। यद्यपि मनुष्य की भाँति पशुओं के साथ मित्रता का सब व्यवहार होना सम्भव नहीं है तो भी उन्हें दुःख न देना, उन के स्वाभाविक अधिकारों का अपहरण न करना, उन पर क्रोध न करना, परितापना न उपजाना,

भूखों न मारना, शक्ति से अधिक बोझ न लादना, हर समय उन की सार-सँभाल रखना, आदि ही यहाँ मैत्री का अर्थ है। पशु-पक्षियों के बाद विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय जीवों का मैत्री के क्षेत्र में प्रवेश होता है। विकलेन्द्रिय के अनन्तर भूत और सत्व अर्थात् वनस्पति और पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, इन पाँच स्थावरों पर मैत्री भावना का आरोपण करना चाहिए—उनका रक्षण करना चाहिए। मैत्री भावना घर से आरम्भ होकर अखिल संसार में समाप्त होती है। (३)

मैत्री की वृद्धि का कारण

मैत्री का कारण आत्मा की विशुद्धि है। ज्यों-ज्यों आत्मा विशुद्ध होती जाती है, त्यों-त्यों मैत्री बढ़ती जाती है। मैत्री की वृद्धि आत्मा का एक महान् गुण है और वह आत्मा की विशुद्धि प्रयोज्य है। जब आत्मा का परिपूर्ण विकास होता है, समस्त आवरणों का क्षय हो जाता है, तब उसकी मैत्री तीनों लोकों को व्याप्त करके रहती है अर्थात् उस समय वह जगत् के समस्त प्राणियों को अपनी मैत्री भावना की कोटि में समावेश कर लेता है। (४)

मैत्री क्यों न तोड़ी जाय ?

इस संसार में कोई भी प्राणी पराया हो, आत्मीय न हो तो कदाचित् उस के साथ मैत्री न भी रखी जाय, किन्तु ऐसा तो एक भी प्राणी नहीं जिस के साथ कभी न कभी पुत्र-पिता, स्त्री-पति, भाई-भाई का सम्बन्ध न हो चुका हो। प्रत्येक जीव के साथ प्रत्येक जीव ने अनन्त वार ये सम्बन्ध जोड़े हैं। अतएव संसार के समस्त प्राणी इस भव के न सही पूर्व भव के तो सगे-सम्बन्धी हैं ही। तब पूर्व-जन्म के सम्बन्धियों के साथ मैत्री न करना क्या किसी भी प्रकार उचित कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। (५)

अपकारी के साथ मैत्री

जो लोग हमारी निन्दा करते हैं, समय-समय पर अपमान करते हैं, इतना ही नहीं, पर-द्वेष रख कर किसी समय डंडे मारने से भी नहीं चूकते, उनकी ओर भी जाते हुए मैत्री के प्रवाह को रोकना नहीं चाहिए। उनकी निन्दक प्रकृति और अपमान करने की आदत उन के पूर्वकृत कर्मों पर आश्रित है। अर्थात् उन्हें ऐसे अशुभ कर्मों का उदय हो रहा है कि सज्जनों पर भी वे दुश्मन की-सी नजर रखते हैं। उन के कर्मों का यह दोष यदि हमारी मैत्री भावना को धक्का पहुंचाता है, तो इतने अंशों में हमारी भी दुर्बलता नहीं गिनी जायगी। मैत्री भावना का विकास चाहने वाले को यह दुर्बलता नहीं पोसा सकती अतएव हमें दुश्मनों के साथ भी मैत्री भावना चालू रहने देना चाहिए। इस के प्रभाव से धोखा देने का समय आने पर दुष्टों की शत्रुता अपने आप ही मित्रता के रूप में पलट जायगी। (६)

मैत्री मानवीय गुण

किसी के साथ शत्रुता रखना, क्लेश करना द्वेष रखना, डाह करना, ये सब पशुओं के गुण हैं। एक गली का कुत्ता दूसरी गली के कुत्ते से शत्रुभाव रखता है, कलह करता है। जानवर आपस में लड़ते हैं। तात्पर्य यह कि द्वेष, कलह, आदि दुर्गुण प्रायः पशुओं में पाये जाते हैं अतएव ये मानवीय गुण न होकर पाशविक हैं। क्या उत्तम मनुष्य जाति को ऐसे निकृष्ट गुण धारण करना उचित है? नहीं। जब मनुष्य-जन्म पशु-जन्म से उत्तम माना जाता है, तो मनुष्य का कर्त्तव्य है कि जो भी पाशविक वृत्तियाँ या अवगुण अपने में नज़र आवें तो उन्हें तत्काल ही दूर कर दिया जाय। सब से हिलमिल कर रहें, प्रेम-भाव और भ्रातृभाव रखें, दूसरे का भला देखकर प्रसन्न हों, दूसरों की सहायता करें, यही मानवीय गुण हैं। यदि ये मानवीय गुण मानव में न हुए और इन के बदले पाशव गुण हुए तो उसे मनुष्य के

आकार का पशु ही समझना चाहिये। जिसे मनुष्य की कोटि में अपनी गणना करानी हो वह परम मानवीय गुण मैत्री को धारण करे (७)

मन को मैत्री रखने का उपदेश

हे मन! तू इधर-उधर भटकना बन्द करके तथा क्लेश, द्वेष, या विष के बीज बिखेरना छोड़ कर, शास्त्ररूपी सरोवर में भरे हुए उपशम-रस में यथेष्ट अवगाहन कर। एक वार नहीं वारम्वार तुझे प्रेरणा करता हूँ कि सब के साथ तू मित्रता का ही नाता रख, किसी के साथ द्वेष न रख और किसी भी मनुष्य को अपना शत्रु न समझ। तू सब से मैत्री रखेगा तो सब तेरे साथ मैत्री रखेंगे। तेरा दुश्मन भी एक वार तेरी परछाईं के नीचे आकर दुश्मनी छोड़ मित्र बन जायगा और इतना ही नहीं वरन् जातीय-वैर भी सर्वथा भूल जायगा। अतएव तू अपने खज़ाने में मित्रता-मैत्री भावना—का ही संग्रह करता चला जा। (८)

———

प्रमोद भावना

राग भैरवी । ताल—त्रिताल

सद्‌गुणपाने सक्तं मे मनः ॥ ध्रुवपदम् ॥
धन्या भुवि भगवन्तोऽर्हन्तः ।
क्षीणसकलकर्माणः ॥
केवलज्ञानविभूतिवरिष्ठाः ।
प्राप्ताखिलशर्माणः ॥ सद्‌गुण—॥ १ ॥
धन्या धर्मधुरन्धरमुनयः ।
गृहीतमहाव्रतभाराः ॥
ध्यान समाधिनिमग्नमानसाः ॥

त्यक्तजगद् व्यवहाराः ॥ सद्‌गुण—॥ २ ॥
सेवाधर्मरता गतस्वार्था ।
अभ्युदयं कुर्वन्तः ॥
धन्यास्तेऽपि समाजनायका ।
न्याय्यपथे विहरन्तः ॥ सद्‌गुण—॥ ३ ॥
श्रद्धातो न चलन्ति कदापि ।
गृहीतव्रता गुणगेहाः ॥
धन्यास्ते गृहिणो धर्मिण
स्त्यक्तान्याय धनेहाः ॥ सद्‌गुण—॥ ४ ॥
सत्यवादिनो ब्रह्मचारिणः ।

प्रकृत्या भद्राः सरलाः ॥
धन्यास्ते गृहिणोऽपि गुणाढ्याः ॥
परोपकारे तरलाः ॥ सद्गुण—॥ ५ ॥
न्यायोपार्जितलक्ष्म्या पुण्यं ।
गुप्तं ये कुर्वन्ति ॥
घ्नन्ति दुःखं दीनजनानां ।
धन्यास्ते भुवि सन्ति ॥ सद्गुण—॥ ६ ॥
भजन्ति ये भ्रातृभावनां ।
रक्षन्ति सन्नीतिम् ॥
धन्यास्ते मार्गानुसारिणः ।
पालयन्ति कुलरीतिम् ॥ सद्गुण—॥ ७ ॥
सुखिनो गुणिनो भवन्तु सर्वे ।
सुहृदो वा स्युरसुहृदः ॥
नश्यन्तु जगतो दुःखानि ।
सैष प्रमोदो मे हृदः ॥ सद्गुण—॥ ८ ॥

भावार्थ—किसी भी व्यक्ति में गुण देख कर प्रसन्न होना, प्रमोद भावना है। प्रमोद भावना का उम्मीदवार अपने उद्‌गार निकालता हुआ कहता है—मेरा मन सद्‌गुणों का पान करने के लिए आतुर है अर्थात् गुणी जनों का गुणगान करके उन गुणों का आस्वादन करने की मुझे उत्कंठा हुई है।

सर्वगुण शिरोमणि अर्हन्त भगवान्

वे अर्हन्त भगवान् धन्य हैं, जिन्होंने चरित्र के मैदान में कूद कर कर्मों की सेना के साथ युद्ध किया और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,

मोहनीय और अन्तराय, इन चार घन घातिया कर्मों की समस्त प्रकृतियों का उच्छेद कर डाला और केवल ज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) तथा केवल दर्शन (परिपूर्ण दर्शन) की विभूति प्राप्त की। भय, शोक, सुख, दुःख, संकल्प, विकल्प आदि द्वंद्वों को दूर कर अखिल आत्मिक आनन्द का अनंत झरना बहाया। ऐसे सर्व-गुण-संपन्न महापुरुष वीतराग देव धन्य हैं। १।

संतपुरुष

धन्य हैं वे संत जन, जिन्होंने अपने कंधे पर धर्म की धुरा धारण की है; जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच महाव्रतों का भार वहन करते हैं, रात दिन आत्मा या परमात्मा का ध्यान करते हुए—मन को एकाग्र करके समाधि में लीन रहते हैं, जिन्होंने जगत् के प्रपंच-मय व्यवहारों को तिलांजलि दे दी है, जो स्वयं संसार-समुद्र से तरते हैं और स्वयं शान्ति-सुधा का पान करते तथा दूसरों को कराते हैं। ऐसे संत-पुरुष—मुनिजन धन्य हैं। (२)

देश सेवक

जो निस्वार्थ भाव से अपने देश, समाज, धर्म या आत्मा की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं, किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना को स्थान नहीं देते, देश, समाज धर्म और आत्मा की उन्नति के कारणों पर विचार करते रहते हैं, न्याय और नीति के पथ पर अटल रह कर तन, मन और धन से एकान्त सेवा बजा कर समाज के नायक बने हैं, ऐसे निस्वार्थ पुरुष धन्य हैं। (३)

श्रावक

धर्म के प्रति जिनकी निश्चय श्रद्धा है, जो समस्त वस्तुओं में धर्म को पहला पद देते हैं, धर्म में जिनकी इतनी दृढ़ता है कि कोई भी शक्ति

उन्हें धर्म से विचलित नहीं कर सकती, जिन्होंने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिये हैं, कुटुम्ब का पोशण करने के लिये व्यवसाय करते हुए भी जो अन्याय के एक पैसे की भी चाहना नहीं रखते, ऐसे गुणों के गेह गृहस्थों-श्रावकों को धन्य है। (४)

परोपकारी पुरुष

जो किसी भी प्रसंग में असत्य वचन नहीं बोलते, सत्य के भोग-त्याग में लाखों की प्राप्ति हो तो भी ठुकरा देते हैं, किन्तु सत्य का कभी त्याग नहीं करते; पर-स्त्री को माता सदृश मानते हैं; प्रकृति के सरल और भद्रिक होते हैं, जो अहोरात्रि गुण-ग्रहण तथा परोपकार में कुशल होते हैं; ऐसे परोपकारी पुरुष भी धन्यवाद के पात्र हैं ॥ ५ ॥

दानी लोग

जो न्याय से प्राप्त लक्ष्मी को भण्डार में गुप्त न रख कर श्रेष्ठ मार्ग–कार्य में व्यय करते हैं, सम्पत्ति का व्यय लोक दिखावे के लिये नहीं करते, किन्तु गुप्तदान देकर पुण्य का संचय करते हैं, दुःखी, दीन, और अपंग मनुष्यों की पूर्ण सहायता कर उनके दुःखों को विच्छेद करते हैं, ऐसे उदार दाता भी इहलोक में धन्यवाद के पात्र हैं ॥ ६ ॥

मार्गानुसारी

जो सबके साथ भ्रातृभाव रखते हैं, सत्पुरुषों के नीति-मार्ग का कभी उल्लंघन—अतिक्रमण-नहीं करते अर्थात् व्यवसाय में पूर्णतया नीति की रक्षा करते हैं, अपने कुल के रीति-रिवाज, सदाचार और धर्म का पूर्ण रीति से पालन करते हैं, जिनके हृदय में पद-पद पर अधर्म और अनीति का भय उपस्थित रहता है, ऐसे मार्गानुसारी पुरुषों और ग्रन्थ में कहे हुए मार्गानुसारी के ३५ गुणों से युक्त पुरुषों को भी धन्य है।

उपसंहार

मेरे मित्र हों या शत्रु, चाहे कोई हों—समस्त जन सुखी हों, उनका प्रति दिन अभ्युदय हो, सद्बुद्धि की प्रेरणा से सन्मार्ग में प्रवृत्त हों, ऐसा होने पर कर्म की हानि के साथ जग से दुःख का सर्वथा विलय हो। सर्वत्र सुख और गुण के प्रचार में ही मेरे हृदय की प्रसन्नता हो। इसमें ही मेरा अप्रतिम—अनुपम—आह्लाद है। इस श्रेणी से ही मेरी प्रमोद भावना विकसित होगी। किम्बहुना, संसार में सुख और गुण का ही साम्राज्य स्थापित हो।

॥ इति प्रमोद भावना ॥

करुणा भावना

राग–आशावरी । ताल—त्रिताल

करुणे ! एहि द्दाम्यवकाशं ।
कुरु जनदुःखविनाशम ॥ ध्रुवपदम् ।
पितृवियुक्ता बह्वो बाला
लभन्ते न निवासम् ॥
आश्रयहीनेभ्यस्तेभ्यस्त्वं ।
देहि गृहं वाऽऽश्वासम् ॥ करुणे ॥ १ ॥
पुत्रवियुक्ता वृद्धाः पितरो ।
निरन्तरं विलपन्ति ॥
जीवननिर्वाहार्थमपि ते ।
साहाय्यं वाञ्छन्ति ॥ करुणे ॥ २ ॥
बाल्येपि वैधव्यं प्राप्ता ।
मुञ्चन्त्यश्रुधाराः ॥
स्थापय विधवाश्रमं तदर्थं ।
रक्ष शुशिक्षणद्वारा ॥ करुणे ॥ ३ ॥
जन्मान्धा बधिरा मूका वा ।
सीदन्त्यशनविहीनाः ॥
अन्धबधिरशालाः संस्थाप्य ।
रक्ष्या एते दीनाः ॥ करुणे ॥ ४ ॥
रक्तपित्तकुष्ठादिरोगै-

ग्रस्ता केचिद्वराकाः ॥
तत्तद्द्विपगालयद्वारा ता-
नवेहि कटुविपाकान् ॥ करुणे ॥ ५ ॥
धीमन्तोऽध्येतुमिच्छन्ति ।
कुलीना दीनसुता ये ॥
परन्त्वशक्ता विना सहायं ।
पोष्या विद्यार्थिनस्ते ॥ करुणे ॥ ६ ॥
पीड्यन्ते पापैः पशवो ये ।
पतत्रिणो वा धरायाम् ॥
मोचय रक्षकशासनतस्तान् ।
निधेहि पशुशालायाम् ॥ करुणे ॥ ७ ॥
पश्यसि यद्यत्करुणापात्रं ।
रक्ष रक्ष तत्सर्वम् ॥
धनेन मनसा वचसा तन्वा ।
विहाय विफलं गर्वम् ॥ करुणे ॥ ८ ॥

करुणा भावना

भावार्थ—करुणा भावना का इच्छुक कहता है कि हे करुणे ! तू मेरे पास आ । मैं अपने हृदय में तेरे योग्य कोमल जगह प्रदान करूंगा । इस जगह में निवास कर, उदारता को वाजू में धर, दुःखी, दीन और लाचार मनुष्यों के दुःखों का विनाश कर ।

अनाथ वालक

हे करुणे ! यदि तू सच्ची है तो कितने ही वालक अपने माँ- वाप से वियुक्त होते हैं । रक्षक माँ-वाप और निवास-स्थान के न होने पर इधर-

उधर भटकते हैं। आश्रयहीन उन अनाथ बच्चों के लिये निवास-स्थान बना और आश्वासन प्रदान कर। ओर्फनेज वा अनाथाश्रम सदृश संस्थाओं का आविर्भाव कर। यदि हाथ से स्वयं कार्य न कर सके तो चालू संस्थाओं की मदद कर, उन्हें कुछ सहायता पहुँचा।

वृद्ध माँ-बाप

हे करुणे! कितने ही वृद्ध माँ-बाप जिनकी उम्र ६० × ७० × ८० अथवा ९० वर्ष की हो जाती है, जब उनके युवक पुत्र इहलोक छोड़कर परलोकवासी हो जाते हैं तब पुत्र वियोगी माँ-बाप घर के कोने में बैठे महान् रुदन करते हैं। कितने ही वृद्ध आधार रूप पुत्र की मृत्यु होने से आजीविका के बिना दुःखी दृष्टिगोचर होते हैं भूख और दुःख दोनों से पीड़ित वृद्ध जीवन-निर्वाह के लिये आर्थिक सहायता की आकांक्षा रखते हैं। हे करुणे! मेरे हृदय में निवास कर, वृद्ध पुरुषों की भी सहायता कर।

विधवायें

हे करुणे! कितनी ही बालिकायें अल्पावस्था में ही पति के सौभाग्य से वंचित होकर विधवा और निराधार हो पड़ी रहती हैं। कितनी ही सहायक पति बिना श्वश्रु श्वसुर तथा अन्य समस्त मनुष्यों को अप्रिय मालूम पड़ती हैं। नणदों के मार्मिक वचन उनके हृदयों को वेध (विंध) देते हैं। पठन-पाठन का ज्ञान न होने से स्वाध्याय किये बिना केवल अफसोस करने में ही अपने दिन व्यतीत कर देती हैं और एकान्त में बैठ अश्रुधारा बहाती हैं। उनके लिए विधवाश्रम स्थापित कर, जिनमें कि सुयोग्य शिक्षण प्राप्त करें। और वाचन—स्वाध्याय में ही दुःख विसर्जन करें तथा सतियों के चरित्रों को पढ़कर उनके पदानुसार चलें जिससे उनके इहलोक और परलोक सुधर जायँ।

अपंग

हे करुणे! कितने ही मनुष्य जन्म से ही अन्धे होते हैं, कितने ही

जन्म से बहरे होते हैं, कितने ही मूक, लूले और पंगु होते हैं। एक तो बेचारे आँख, कान, जिह्वा, हाथ तथा पाँव की न्यूनता से शारीरिक दुःख भोगते हैं। फिर भी उन पर भोजन की तंगी और दरिद्रता का हमला होता है, अर्थात् दो प्रकार के दुःख से दुखित होते हैं। उनके रक्षण के लिये अंधशाला, बधिरशाला तथा मूकशाला जैसी संस्थायें स्थापित कर चालू संस्थाओं में भाग ले—किसी भी तरह उनका रक्षण कर।

रक्त पित्त रोगी

हे करुणे! कोई कोई कोढ़ से गलिताँग होते हैं अर्थात् जिनके कोढ़ के घावों से पीप-रस्सी-निकला करती है। अथवा रक्त-पित्त सदृश चेपीदर्द से दुखित होते हैं, जिससे कोई भी उनका स्पर्श नहीं करता और न कोई उन्हें पास बैठने देता है, ठीक तरह से उनसे कोई बात भी नहीं करता। इस तरह तिरस्कृत होकर भूख से संतप्त इधर उधर घूमते हैं। उनको आरोग्य प्रदान करने के लिए औषधालय अथवा आश्रम स्थापित कर, उनको तीक्ष्ण विपाक से बचा—जिस तरह उनका दुःख दूर हो, ऐसे साधन प्रदान कर—उनको आश्रय दे।

विद्यार्थी और ज्ञानदान

हे करुणे! कितने ही उच्च खानदान—कुटुम्ब के बालक भी दरिद्रता के कारण बुद्धिमान और अध्ययन की उत्कट इच्छा होने पर भी स्कूल-फीस और पठन-सामग्री के अभाव से पढ़ने की अभिलाषा पूर्ण करने में अशक्त होते हैं। विद्या और भाग्य के चमकते सितारे उदय होने के पूर्व अस्त को प्राप्त हो जाते हैं। उन सितारों को जीवित रखने के लिए—चमकाने के लिए पोषण अथवा सहायता प्रदान करने की क्या कम आवश्यकता है? नहीं उनकी भी अपनी शक्ति के अनुसार मदद कर।

पशु-पक्षी

हे करुणे! मानवी आवश्यकता पूर्ण करने के पश्चात्—सहायता देने के बाद अवशिष्ट शक्ति का सदुपयोग पशु-पक्षियों के बचाने में करना

चाहिए। अहा ! कितने ही क्रूर-पापी पुरुष विना अपराध के ही पशुओं को पीड़ा पहुंचाते हैं, शिकार करते हैं, माँस के लिये उन के गले काटते हैं, गोली अथवा पत्थर फेंक कर आकाश में उड़ते पक्षियों को नीचे गिरा देते हैं; ऐसे नियम वना, जिस से उनका रक्षग हो। पापि ों को समझाने के लिये अच्छी पुस्तकों का निर्माण कर अथवा उपदेश दे कर पीड़ित पशुपक्षियों को वचा और उनके रक्षग के लिये पिंजरापोल पशु-शालाएं जैसी संस्थाएं स्थापित कर—उन में अशक्त पशुओं का अच्छी तरह रक्षण कर।

उपसंहार

हे करुणे ! इस जगत् में करुणा करने लायक अनेक प्राणी हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के नाम नहीं लिख सकते। थोड़े में इतना ही कहता हूँ कि जहाँ जहाँ जो कोई दुःखी मनुष्य अथवा पशु-पक्षी, कोई प्राणी दृष्टिगोचर हो, वहां उन का रक्षग कर। धन हो तो, धन से, मनोवल हो तो मनोवल से, वाचालता हो तो वचन—उपदेश से। यदि पास कुछ न हो तो, अहंत्व को त्याग कर शरीर से रक्षा कर।

इति करुणा भावना

माध्यस्थ्य भावना

राग—भैरवी । ताल—त्रिताल

माध्यस्थ्येऽहो कोप्यपूर्वो रसः ॥ ध्रुवपदम् ॥

रागद्वेषान्दोलनजनकाः
प्रचुरा भुवि पदार्थाः ॥
समयं सौख्ये समयं दुःखे ।
भ्रामयन्ति जनसार्थान् ॥ माध्यस्थ्ये ॥ १ ॥

स्याद्यदि किञ्चित्स्थायि वस्तु ।
तत्र रुचिः स्यादुचिता ॥
नास्ति स्थिरं किञ्चिदपि दृश्यं ।
तस्मात्स्यात् साऽनुचिता ॥ माध्यस्थ्ये ॥ २ ॥

पुद्‌गलमात्रं परिणतिशीलं ।
द्वेष्यं भवति रोच्यम् ॥
नातो द्वेषः कार्यः कदापि ।
नापि मनसा शोच्यम् ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ३ ॥

पुरुषा अपि परिवर्तनशीला ।
नैकस्वभावाः सन्ति ॥
धर्मिणोऽपि भवन्त्यधर्मिण-
स्ते धर्मिणो भवन्ति ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ४ ॥

क्रूरोपि प्रदेशी भूपतिः ।
जातो न किं दृढधर्मा ॥
दृढधर्मापि जमालिरजायत ।

मिथ्यावादी कुकर्मा ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ५ ॥
अनुकूलं वा प्रतिकूलं वा ।
स्यादिष्टं वाऽनिष्टम् ॥
माध्यस्थ्येन भाव्यमुभयथा ।
मान्यं सर्वमभीष्टम् ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ६ ॥
यद्यत्सम्यग् यद्यदसम्यक् ।
तत्तत्कर्मानुसारि ॥
व्यर्थो रागो द्वेषस्तत्र ।
कस्मात्कर्माकारि ? ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ७ ॥
शिक्षा तावद्देयाऽधमानां ।
यावत्तेषामुपेक्षा ॥
क्लेषद्वेषधिक्कारसंभवः ।
कार्या तत्र ह्युपेक्षा ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ८ ॥

माध्यस्थ्य भावना

भावार्थ—माध्यस्थ्य भावना में वास्तविक कोई अलौकिक रस आनंद होता है । यदि मनुष्य को माध्यस्थ्य भावना का अवलंबन न हो तो उसको कहीं भी शांति का स्थान नहीं मिल सकता; क्योंकि इस जगत में जहां दृष्टि डालते हैं वहां मन को रागद्वेष के आंदोलन में भटकाने वाले अनेक पदार्थ हैं । ये मोहक पदार्थ मनुष्य को कभी सुख तो कभी दुःख में घुमाते हैं, क्योंकि पदार्थों का संयोग और वियोग होने का धर्म है । संयोग में सुख तो वियोग में दुःख उत्पन्न करता है । अर्थात् सुख दुःख के सङ्कल्प-विकल्प में अस्थिरता होने से शान्ति नहीं मिलती । इसलिये माध्यस्थ्य भाव से रहना चाहिए कि जिससे अशांति दूर हो । १ ॥

क्यों राग-द्वेष करते हैं ?

इस जगत् में कोई भी वस्तु स्थायी-स्थिर हो—कायम रहने वाली हो तो उस पर राग करना या प्रेम करना किसी अपेक्षा से योग्य-उचित है, किन्तु कोई वस्तु ऐसी है ही नहीं। दृश्य और भोग्य पदार्थ मात्र अस्थिर-विनश्वर हैं। अल्प समय पश्चात् वियोग अवस्था प्राप्त पदार्थ पर आसक्ति करना ही दुःख का कारण है, इसलिये सुखार्थी को ऐसा करना उचित नहीं। जिस प्रकार राग करने योग्य पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार द्वेष भी करने योग्य पदार्थ नहीं, जिस पदार्थ पर द्वेष किया जाता है, वह पदार्थ भी स्थिर नहीं। क्योंकि पुद्गलमात्र परिणति स्वभाव वाले हैं। जो एक वक्त अरोचक-द्वेष-युक्त ज्ञात होता है वही कालान्तर में रोचक बन जाता है। जो अप्रिय है वही कालान्तर में प्रिय हो जाता है इसलिए किसी पर द्वेष धारण करना भी उचित नहीं, और न पदार्थ के लाभालाभ में शोच करना ही उचित है। अति आसक्ति तथा द्वेष भी नहीं करना, किन्तु दोनों अवस्थाओं में माध्यस्थ्य भाव से रहना चाहिए ॥ २ ॥ ३ ॥

मनुष्य के साथ भी राग-द्वेष न करना

मनुष्य भी हमेशा एक स्वभाव वाला नहीं रहता, वह भी परिवर्तन स्वभाव वाला है। जो अधर्मी होता है वह धर्मी बन जाता है और धर्मी अधर्मी, न्यायशील अन्यायी और अन्यायी न्यायशील बन जाता है। सुकर्मी कुकर्मी और कुकर्मी सुधर कर सुकर्मी बन जाता है। बुरा समझ कर जिस पर राग-द्वेष किया जाता है वही पुरुष कालान्तर में श्रेष्ठ बन जाय तो क्यों उस पर द्वेष किया जाय ॥ ४ ॥

दृष्टान्त

उपरोक्त वार्ता केवल मौखिक नहीं किन्तु शास्त्र भी उनकी पुष्टि में दृष्टान्त बतलाते हैं। देखो, रायपसेणी सूत्र में परदेशी राजा का अधि-

कार है। परदेशी राजा पूर्व कितना बुरा था ? हिंसक, क्रूर, घातकी, जुल्मी, नास्तिक, धर्म-द्रोही आदि समस्त अवगुणों से परिपूर्ण था किन्तु केशी मुनि का संग होते ही सुकर्मी बनने में कुछ भी समय न लगा। क्रूरता, नास्तिकता इत्यादि दोष एक क्षण में जाते रहे और उनके स्थान में सद्गुणों का निवास हुआ। इससे विपरीत जमाली मुनि जिन्होंने पूर्ण वैराग्य से दीक्षा ली, ग्यारह अंग (शास्त्रों) का अध्ययन किया, मुनियों के गुण में एक चमकते सितारे थे किन्तु श्रद्धा विपरीत हुई, उपकारी के उपकार को भूल गये, विपरीत प्ररूपणा कर मिथ्यात्व की भूमिका पर गिरे। तब अच्छे गुणों की क्या गणना रही ? किसके ऊपर राग और किसके ऊपर द्वेष किया जाय ? दोनों में से एक भी उचित नहीं। गुण ग्रहण करना, दोष त्यागना तथा उपेक्षणीय पदार्थ पर उपेक्षा करना, किसी का तिरस्कार न करना, इसी प्रकार द्वेष भी न करना उचित है। सब को कर्मानुसार प्रकृति (स्वभाव) मिली है, दूसरों को सिर खपाने की जरूरत नहीं। जहां तक हो सके सच्ची सलाह देना अन्यथा तटस्थ रहना चाहिये ॥५॥

अच्छे और बुरे संयोगों में मध्यस्थता

बाह्य संयोग भी परिवर्तनशील हैं। घड़ी में अनुकूल तथा घड़ी में प्रतिकूल होते हैं। एक वक्त पुत्र की प्राप्ति होती है तो दूसरी वक्त मृत्यु होने से उसका वियोग। एक वक्त व्यापार में लाभ की प्राप्ति होती है तो दूसरी वक्त हानि। संयोग रूपी पवन से ध्वजा तुल्य इधर उधर घूमते हैं। जो मनुष्य एक बार इष्ट (प्रिय) होता है वही दूसरे वक्त अप्रिय (अनिष्ट) हो जाता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को माध्यस्थ्य भाव का त्याग न करना चाहिए। एक ही सिद्धान्त रखना चाहिए कि जो प्राप्त होवे अभिष्ट है। अच्छा और बुरा यह मन की मान्यता है। मान्यता अच्छी रखने से भला होता है ॥६॥

कर्मानुसारी फल

जो अच्छे संयोग और जो बुरे संयोग मिलते हैं वे किसी दूसरे के दिये हुए नहीं, उन में ईश्वर अथवा किसी का हाथ नहीं; किन्तु वे सब

अपने पूर्व कर्म के अनुसार मिले हैं। शुभ कर्म से शुभ संयोग और अशुभ कर्मों से अशुभ संयोग मिलते हैं। फिर उनमें हाय, हाय करना अथवा राग द्वेष करके विलाप करना अनुचित है। कर्म का संचय करते वक्त क्यों नहीं किया! यदि अशुभ संयोगों के साथ सम्बंध नहीं होता तो पूर्व अशुभ कर्मों का संचय नहीं किया, यदि कर्मों का संचय किया तो साम्य भाव रख कर कर्मों का परिणाम शाँत हृदय से भोगना चाहिए। उस में हर्ष शोक करना मूर्खता है ॥ ७ ॥

परोपदेश

जो नीच और अधर्मी हों, उन्हें सुधारने के लिये सलाह अथवा उपदेश दो, लेकिन तब तक, जब तक उसे सुनने की कुछ अपेक्षा हो। यदि सन्मुख रहे हुए मनुष्य को द्वेष पैदा हो और स्वयं को भी उससे तिरस्कार हो तथा उससे दोनों के मध्य में क्लेश वृद्धि की संभावना हो तो वहाँ उपदेश त्याग कर मौनव्रत धारण करना—यही उचित है।

॥ इति माध्यस्थ्य-भावना ॥

॥ वसन्ततिलकावृत्तम् ॥

सद्भावना शतक-शेखर-रूपपद्यै-
र्गेयैश्चतुर्भिरुपवर्णितमात्मशान्त्यै ॥
रत्नत्रयोच्छ्रयकरं शुभभावनाना-
महं चतुष्टयमहो जयताज्जगत्याम् ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

भारत भूषण शतावधानी जैनमुनि
पण्डित श्री रत्नचन्द्रजी महाराज द्वारा सम्पादित
अर्द्धमागधी-कोष (सचित्र)
प्राकृत, संस्कृत, इङ्गलिश, हिन्दी, गुजराती भाषा में
[भाग १, २, ३, ४ और ५]

क़ीमत प्रत्येक भाग की १०) रु० साथ लेने वालों के लिये पांचों भागों का मूल्य ४०) रु० डाक व्यय अलग। पृष्ठ संख्या प्रत्येक भाग की ८०० और १००० के बीच में है।

इस अर्द्धमागधी-कोष पर इटली, जर्मनी आदि देशों के विश्व-विद्यालयों के प्रोफेसरों की अनेक सम्मतियां, हार्दिक धन्यवाद के साथ आई हैं जिनमें से कुछ सम्मतियां आपके सामने उपस्थित कर रहे हैं। आप भी इन सम्मतियों को पढ़ कर. अवश्य ही जल्दी से जल्दी इस ग्रन्थ का संग्रह करिये। पुस्तक की प्रतियां कम हैं। अतः शीघ्र आर्डर भेजिये। इस पुस्तक पर १२।।) प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

(1) *Helmuth Von Glarenaph, Ph. D., private dozentder indischen Philologic ander Universitat Berlin writes:*—Your work deserves a cordial welcome from all students of Prakrit. It fills a decided gap in the literature devoted to this important branch of oriental studies and will be found invaluable to all who are interested in the language, literature

and philosophy of Jainism. What I have seen of it, I consider interesting in the highest degree and a useful help to teachers and pupils.

(2) *Prof. Dr. W. Kirfel, Godesberg, writes:*—It will be the first complete Aradha Magadhi Dictionary and certainly a very useful work for scholars and students. I congratulate you for this great and prominent undertaking. I will acquire this indispensable work.

(3) *Prof. W. Schubring, Hamburgische Universitrat, Seminer, Furkulter and Geschichte Indiens, Hamburg, writes:*—An Illustrated Aradh Magadhi Dictionary is prepared with great devotion and care and deserves the attention of the European Prakritist in a high degree. The S. S. Jain Conference which is going to publish this work should gain a great merit by distributing a few copies among those German scholars who by long years' work promote the knowledge of Jain religion and literature in Europe.

(4) *M. Winternity, Prague (Czecho-Slovakia) writes:*—It will be a very useful

work for all scholars interested in Jain literature. I have asked the librarian of our University library to order a copy of the work.

(5) *Sylvain Levi, Professor. an college-de-France, Katmandu (Nepal) writes*:—My opinion is that you are doing a very useful work and which will be greeted by all scholars. I am sure that I shall get several subscriptioners from my colleagues and pupils at home. My compliments also for the illustrations which are a very happy feature of the work.

(6) *I. W. Johory, M. A. B. D , Prof., Indore Christian College, Indore, writes*:—The Aradha Magadhi Dictionary will be very useful to the students as well as to those who are in research work. Being pentalingual it should be very useful to almost all educated people. It is not only a Lexicon but it is an Encyclopaedia not a mere glossary. The quotations themselves give references to a rich Bibliography. Suggestions are unnecessary when you have already taken so much pains and diligence to make the dictionary exhaustive. I can only say your work is highly creditable.

☞ प्रकाशित होने वाला है ! प्रकाशित होने वाला है !!

क्या ?

सृष्टिवाद और ईश्वर नामक ग्रन्थ रत्न

रचयिता— भारतभूषण शतावधानी जैन मुनि पं० श्री रत्नचन्दजी महाराज

सूयगडांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में बतलाई गई सृष्टिवाद विषयक पांच गाथाओं पर विवेचन रूप से यह पुस्तक तैयार की गई है। जिसमें वेद-संहिता, ब्राह्मण-उपनिषद् पुराण, कुरान, बाईबल, सत्यार्थ-प्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों के सृष्टि और प्रलय-विषयक उद्धरण दिये गये हैं और साथ ही समालोचना भी की गई है उत्तर पक्ष रूपमें मीमांसा-दर्शन, सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन आदि तात्त्विक पुस्तकों के प्रमाण देकर सृष्टि कर्त्ता ईश्वर नहीं है यह सिद्ध किया गया है।

पुस्तक लगभग ३० फार्म की होगी। साइज़ क्राउन १६ सोलह पेजी है। पहिले से ग्राहक बनने वालों के लिये १।) रु० और बाद वालों के लिये १।।) रु० डाक व्यय दोनों दशा में अलग।

मिलने का पता—

धीरजलाल के० तुरखिया
जैन गुरुकुल ब्यावर
(राजपूताना)

गणेशमल सरदारमल
नयाबाजार
अजमेर

समिति से प्राप्त अन्य उत्तम पुस्तकें

१ जैन सिद्धान्त कौमुदी (अर्द्ध मागधी व्याकरण) मूल्य ५) रु०
२ भावना शतक हिन्दी भावार्थ और विवेचन सहित ,, १॥) रु०
३ भावना शतक हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ ,, ।)
४ कर्तव्य कौमुदी हिन्दी भावार्थ और विवेचन सहित
प्रथम भाग ,,
५ ,, ,, द्वितीय भाग १) रु०
६ ,, ,, पद्यानुवाद प्रथम भाग ,, ।) रु०
७ कारण संवाद हिन्दी ,, =)
८ ,, ,, गुजराती ,, -)॥
९ रेवतीदान समालोचना ,, ≡)
१० साहित्य संशोधन की आवश्यकता ,, -)

प्राप्तिस्थान

(१) श्री धीरजलाल केशवलाल तुरखिया
मंत्री श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति जैन गुरुकुल ब्यावर
(२) गणेशमल सरदारमल नया बाजार अजमेर।

बाबू मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से
दी फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस, अजमेर में मुद्रित.